

□ विद्यामहोदधि डॉ० छगनलाल शास्त्री, काव्यतीर्थ

एम० ए० (संस्कृत, हिन्दी, प्राकृत व जैनोलोजी) स्वर्णपदक-समाप्त, पी-एच०डी०

जैन श्रमणसंघ :

विभाजन : पद : योग्यता : दायित्व : कर्तव्य

समीक्षात्मक परिशीलन

□

भ० महावीर का श्रमण-संघ

भगवान महावीर का श्रमण-संघ बहुत विशाल था। अनुशासन, व्यवस्था, संगठन, संचालन आदि की दृष्टि से उसकी अपनी अप्रतिम विशेषताएँ थीं। फलतः उत्तरवर्ती समय में भी वह समीचीनतया चलता रहा, आज भी एक सीमा तक चल रहा है।

भगवान महावीर के नौ गण थे, जिनका स्थानांग-सूत्र में निम्नाङ्कित रूप में उल्लेख हुआ है—

“समणस्स भगवओ महावीरस्स णव गणा होत्था। तं जहा—१. गोदासगणे,
२. उत्तर-बलियस्सयगणे, ३. उद्देहगणे, ४. चारणगणे, ५. उद्धवाइयगणे,
६. विस्सवाइयगणे, ७. कामिडिइयगणे, ८. माणवगणे, ९. कोडियगणे।”

इन गणों की स्थापना का मुख्य आधार आगम-वाचना एवं धर्मक्रियानुशीलन की व्यवस्था था। अध्ययन द्वारा ज्ञानार्जन श्रमण-जीवन का अपरिहार्य अंग है। जिन श्रमणों के अध्ययन की व्यवस्था एक साथ रहती थी, वे एक गण में समाविष्ट थे। अध्ययन के अतिरिक्त क्रिया अथवा अन्यान्य व्यवस्थाओं तथा कार्यों में भी उनका साहचर्य एवं ऐक्य था।

गणस्थ श्रमणों के अध्यापन तथा पर्यवेक्षण का कार्य गणधरों पर था। भगवान महावीर के ग्यारह गणधर थे :—

१. इन्द्रभूति, २. अग्निभूति, ३. वायुभूति, ४. व्यक्त, ५. सुधर्मा, ६. मण्डित, ७. मौर्यपुत्र,
८. अकम्पित, ९. अचलभ्राता, १०. मेतार्य, ११. प्रभास।

इन्द्रभूति भगवान महावीर के प्रथम व प्रमुख गणधर थे। वे गौतम गोत्रीय थे, इसलिए आगम-वाङ्मय और जैन परम्परा में वे गौतम के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रथम से सप्तम तक के गणधरों के अनु-

१. स्थानांग सूत्र ६.२६

आचार्यप्रवचन अभिनन्दन आचार्यप्रवचन अभिनन्दन
श्रीआनन्दरक्ष अभिनन्दन श्रीआनन्दरक्ष अभिनन्दन



११६ इतिहास और संस्कृति

शासन में उनके अपने-अपने गण थे। अष्टम व नवम गणधर का सम्मिलित रूप में एक गण था। इसी प्रकार दशवें तथा ग्यारहवें गणधर का भी एक ही गण था। कहा जाता है कि श्रमण-संख्या कम होने के कारण इन दो-दो गणधरों के गणों को मिलाकर एक-एक किया गया था।

अध्यापन, क्रियानुष्ठान की सुविधा व सुव्यवस्था रहे, इस हेतु गण पृथक्-पृथक् थे। वस्तुतः उनमें कोई मौलिक भेद नहीं था। वाचना का भी केवल शाब्दिक भेद था, अर्थ की दृष्टि से वे अभिन्न थीं। क्योंकि भगवान महावीर ने अर्थ रूप में जो तत्व-निरूपण किया, भिन्न-भिन्न गणधरों ने अपने-अपने शब्दों में उसका संकलन या संग्रहण किया, जिसे वे अपने गण के श्रमण-समुदाय को सिखाते थे। अतएव गणविशेष की व्यवस्था करने वाले तथा उसे वाचना देने वाले गणधर का निर्वाण हो जाने पर उस गण का पृथक् अस्तित्व नहीं रहता। निर्वाणोन्मुख गणधर अपने निर्वाण से पूर्व दीर्घजीवी गणधर सुधर्मा के गण में उसका विलय कर देते।

एक अनुपम विशेषता

भगवान महावीर के संघ की यह परम्परा थी कि सभी गणों के श्रमण, जो भिन्न-भिन्न गणधरों के निर्देशन और अनुशासन में थे, प्रमुख पट्टधर के शिष्य माने जाते थे। इस परम्परा के अनुसार सभी श्रमण भगवान महावीर के निर्वाण के अनन्तर सहजतया सुधर्मा के शिष्य माने जाने लगे। यह परम्परा आगे भी चलती रही। भिन्न-भिन्न साधु मुमुक्षुजनों को आवश्यक होने पर दीक्षित तो कर लेते थे, पर परम्परा या व्यवस्था के अनुसार उसे अपने शिष्य रूप में नहीं लेते, दीक्षित व्यक्ति मुख्य पट्टधर का ही शिष्य माना जाता था।

यह बड़ी स्वस्थ परम्परा थी। जब तक रही, संघ बहुत सबल एवं सुव्यवस्थित रहा। वस्तुतः धर्म-संघ का मुख्य आधार श्रमण-श्रमणी-समुदाय ही है। उनके सम्बन्ध में जितनी अधिक जागरूकता और सावधानी बरती जाती है, संघ उतना ही स्थिर और दृढ़ बनता है।

भगवान बुद्ध : धर्म-देशना

भगवान बुद्ध इस ओर कुछ भिन्न दृष्टिकोण लिये हुए थे। जब वे बुद्ध हुए तो पहले पहल किसी को धर्म-देशना-दीक्षा देने को तैयार न थे। महावग्ग में उनके उद्गार हैं—

“कृच्छ साधना से—कष्ट से जो धर्म मैंने अधिगत किया है, उसे रागद्वेष में फँसे हुए लोग नहीं समझ पायेंगे। यह धर्मतत्व प्रतिस्रोत-गामी (लोकप्रवाह के विपरीत चलने वाला), निपुण, गम्भीर, दुर्दृश्य और सूक्ष्म है। अंधकारावृत्त एवं राग-रक्त मनुष्य इसे नहीं देख पायेंगे।”

‘देवलोक से समागत ब्रह्म-सहस्रपति नामक देव ने भगवान से पुनः विशेष अनुनय-विनय किया— वे देवताओं और मनुष्यों के कल्याणार्थ धर्मदेशना दें।

तब भगवान बुद्ध ने पहले पहल पाँच मनुष्यों को अपने धर्म में दीक्षित किया। महावग्ग में उन्हें पंचवग्गिय कहा गया है।”

१. महावग्ग १. ५. ७

२. महावग्ग १. ५. १०

“तदनन्तर जस आदि अनेक व्यक्तियों को उन्होंने उपसम्पदा दी। जिनमें से विशिष्ट संस्कार सम्पन्न साधक शीघ्र ही अर्हत् हो गये। यों तब भगवान सहित इकसठ अर्हत् थे।”^३

“भगवान बुद्ध ने उन्हें धर्म-प्रसार के लिए विहार करने का निर्देश देते हुए कहा—भिक्षुओ ! बहुत जनों के हित के लिए, सुख के लिए, लोगों की अनुकम्पा के लिए, देवताओं और मनुष्यों के लाभ, हित और सुख के लिए विहार करो।”^४

भिक्षु विहार के लिये निकल पड़े। जन-जन को धर्म का सन्देश दिया। अनेक मनुष्य भिक्षु-जीवन स्वीकार करने को तत्पर हुए। दीक्षित करने का अधिकार भिक्षुओं को नहीं था। वे उन सबके साथ भगवान के पास आए। इतने सारे दीक्षाधियों को देखकर भगवान मन में वितर्कणा करने लगे।

“इतने भिक्षु नाना दिशाओं से, नाना जनपदों से प्रव्रज्यापेक्षी, उपसम्पदापेक्षी लोगों को यह सोचकर कि भगवान इन्हें प्रव्रज्या देंगे, उपसम्पदा देंगे, लाते हैं। इससे भिक्षुओं को तथा प्रव्रज्या व उपसम्पदा चाहने वालों को क्लान्ति होती है। इसलिए अच्छा हो, मैं भिक्षुओं को अनुज्ञा दे दूँ—भिक्षुओ अब तुम्हीं उन-उन दिशाओं में, जनपदों में प्रव्रज्या और उपसम्पदा देते रहो।”^५

यों प्रव्रज्या और उपसम्पदा देने का अधिकार जो भगवान बुद्ध के अपने हाथ में था, सब भिक्षुओं को दे दिया गया।

आगे चलकर बौद्ध धर्म उत्तरोत्तर प्रचार-प्रधान होता गया। जनपदों व दिशाओं में, भिन्न-भिन्न नगरों तथा प्रान्तों में भिक्षु जाते। दीक्षा देने का प्रतिबन्ध हट गया था। बिना रोक-टोक लोगों को दीक्षित करते। फलतः बौद्ध धर्म फैला तो खूब पर उसमें कुण्ठा व्याप्त होने लगी, नियमों की कठिनता में शैथिल्य आने लगा। प्रान्त-प्रान्त और गाँव-गाँव में उसके भिन्न-भिन्न स्वरूप दृष्टिगोचर होने लगे।

अधिकार, कर्तव्य, अनुशासन

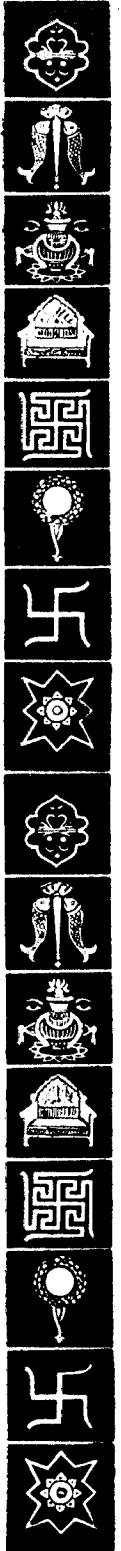
कोई भी अधिनायक या प्रधान अपने-अपने संगठन के समग्र कार्य स्वयं संचालित कर सके, यह सम्भव नहीं होता। अतः अपने अधीनस्थ व्यक्तियों को कुछ एक कार्यों के अधिकार देना आवश्यक होता है। जो अधिकार पाते हैं, उनमें अधिकार-प्राप्ति के साथ ही दृढ़ कर्तव्य-भावना जागनी चाहिए। यदि अधिकार और कर्तव्य समन्वित रूप में या सामंजस्य पूर्वक चलें तो व्यवस्था स्वस्थ बनी रहती है। जहाँ उनका समन्वय टूट जाता है, व्यवस्था दुर्बल हो जाती है। व्यवस्था की दुर्बलता में उच्छृंखलता का पनपना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में अनुशासन सफल सिद्ध नहीं होता। अधिकार का यथार्थ उपयोग और कर्तव्य-बुद्धि जहाँ होती है, वहीं अनुशासन कारगर होता है। इनके मिट जाने पर अनुशासन ओजरहित तथा निष्फल हो जाता है। वस्तुतः अधिकार, कर्तव्य और अनुशासन—इन दोनों का परस्पर अव्यवहित सम्बन्ध है।

३. महावग्ग १. ६. ३१

४. महावग्ग १. १०. ३२

५. महावग्ग १. ११. ३४

આયાર્યપ્રવરણ અમિતદેવ આયાર્યપ્રવરણ અમિતદેવ
શ્રીઆવન્દરણ અન્થ.કૃ. શ્રીઆવન્દરણ અન્થ.કૃ.



११८ इतिहास और संस्कृति

ऊपर भगवान बुद्ध के धर्म-संघ की जो चर्चा आई है, उससे स्पष्ट है कि अधिकार, कर्तव्य और अनुशासन की भावना मिट जाने पर किसी भी संस्थान, संगठन या धर्म-संघ की स्थिति यथावत् नहीं रह पाती। उत्तरवर्ती जैन श्रमण-संघ के इतिवृत्त से भी यह सिद्ध होता है कि ज्यों-ज्यों अधिकार के न्याय तथा सचाई पूर्वक निर्वाह एवं कर्तव्य-भावना के लुप्त हो जाने पर अनुशासन शिथिल होता गया। फलतः धर्म-संघ की जो सुदृढ़, समीचीन और उत्तम व्यवस्था पहले थी, वह नहीं रह पाई।

गण, कुल, शाखा

भगवान महावीर के समय से चलती आई गुरु-शिष्य-परम्परा का आचार्य भद्रबाहु तक निर्वाह होता रहा। उनके बाद इस क्रम ने एक नया मोड़ लिया। तब तक श्रमणों की संख्या बहुत बढ़ चुकी थी। भगवान महावीर के समय व्यवस्था की दृष्टि से गणों के रूप में संघ का जो विभाजन था, वह यथावत् रूप में नहीं चल पाया। सारे संघ का नेतृत्व एकमात्र पट्टधर पर होता था, वह भी आर्य जम्बू तक तो चल सका, आगे सम्भव नहीं रहा। फलतः उत्तरवर्ती काल में संघ में से समय-समय पर भिन्न-भिन्न नामों से पृथक्-पृथक् समुदाय निकले, जो 'गण' नाम से अभिहित हुए।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि भगवान महावीर के समय में 'गण' शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त था, आगे चलकर उसका अर्थ परिवर्तित हो गया। भगवान महावीर के आदेशानुवर्ती गण संघ के निरपेक्ष भाग नहीं थे, परस्पर सापेक्ष थे। आचार्य भद्रबाहु के अनन्तर जो 'गण' निकले, वे एक दूसरे से निरपेक्ष हो गये। फलतः दीक्षित श्रमणों के शिष्यत्व का ऐक्य नहीं रहा। जिस समुदाय में वे दीक्षित होते, उस समुदाय या गण के प्रधान के शिष्य कहे जाते।

एक उल्लेखन

भगवान महावीर के नौ गणों के स्थानांग सूत्र में जो नाम आये हैं, उसमें से एक के अतिरिक्त ठीक वे ही नाम आचार्य भद्रबाहु के अनन्तर भिन्न-भिन्न समय में विभिन्न आचार्यों के नाम से निकलने वाले आठ गणों के मिलते हैं, जो कल्प-स्थविरावली के निम्नांकित उद्धरणों से स्पष्ट है—

.....थेरेंहितो णं गोदासेंहितो कासवगोत्तेंहितो एत्थ णं गोदासगणं नामं गणं निग्गए ।

काश्यपगोत्रीय स्थविर गोदास से गोदास गण निकला ।

.....थेरेंहितो णं उत्तरबलिस्सहेंहितो तत्थ णं उत्तरबलिस्सहगणं नामं गणं निग्गए ।

स्थविर उत्तर और बलिस्सह से उत्तरबलिस्सह गण निकला ।

थेरेंहितो णं अण्णरोहणंहितो कासवगोत्तेंहितो तत्थ णं उद्देहगणं नामं गणं निग्गए ।

काश्यपगोत्रीय स्थविर आर्यरोहण से उद्देह गण निकला ।

थेरेंहितो णं सिरिगुत्तेंहितो हारियसगोत्तेंहितो एत्थ णं चारणगणे नामं गणे निग्गए ।

हारीतगोत्रीय स्थविर श्रीगुप्त से चारण गण निकला ।

थेरेंहितो भद्दजसेंहितो भारद्वायसगोत्तेंहितो एत्थ णं उडुवाडिय गणे निग्गए ।

भारद्वाजगोत्रीय स्थविर भद्रयश से उडुवाडिय गण निकला ।

थेरेंहितो णं कामिड्ढंहितो कुंडिलसगोत्तेंहितो एत्थ णं वेसवाडियगणे नामं गणं निग्गए ।

.....थेरेंहितो णं कुण्डिलसगोत्तेंहितो एत्थ णं वेसवाडियगणे नामं गणं निग्गए ।

कुंडिलगोत्रीय स्थविर कामाद्धि से वेसवाडिय गण निकला ।

थेरेहितो णं इसिगुत्तेहितो णं काकंदएहितो वासिट्ठसगोत्तेहितो तत्थ णं माणवगणं नामं गणं निग्गए ।
वशिष्ठगोत्रीय, काकंदीय स्थविर ऋषिगुप्त से माणव गण निकला ।

थेरेहितो णं सुट्ठिय सुपडिबुद्धेहितो कोडियकाकन्दएहितो वग्घावच्चसगोत्तेहितो एत्थ णं कोडियगणं नामं गणं निग्गए ।

कोटिककाकंदकामिध व्याघ्रापत्य गोत्रीय स्थविर सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध से कोडिय गण निकला ।

भगवान् महावीर ने नौ गणों में सातवें का नाम 'कामइडिय था । उसको छोड़ देने पर अवशेष नाम ज्यों के त्यों हैं । थोड़ा बहुत जो कहीं-कहीं वर्णात्मक भेद दिखाई देता है, वह केवल भाषात्मक है । अपने समय की जीवित-जनप्रचलित भाषा होने के कारण प्राकृत की ये सामान्य प्रवृत्तियाँ हैं ।

प्रश्न उपस्थित होता है कि भगवान् महावीर के गणों का गोदास गण, बलिस्सहगण आदि के रूप में जो नामकरण हुआ, उसका आधार क्या था ? यदि व्यक्ति-विशेष के नाम के आधार पर गणों के नाम होते तो क्या यह उचित नहीं होता कि उन-उन गणों के व्यवस्थापकों—गणधरों के नाम पर वंसा होता ? गणस्थित किन्हीं विशिष्ट साधुओं के नामों के आधार पर ये नाम दिये जाते तो उन विशिष्ट साधुओं के नाम आगम वाङ्मय में, जिसका ग्रन्थन गणधरों द्वारा हुआ, अवश्य मिलते । पर ऐसा नहीं है । समझ में नहीं आता, फिर ऐसा क्यों हुआ ! विद्वानों के लिए यह चिन्तन का विषय है ।

ऐसी भी सम्भावना की जा सकती है कि उत्तरवर्ती समय में भिन्न भिन्न श्रमण-स्थविरों के नाम से जो आठ समुदाय या गण चले, उन (गणों) के नाम भगवान् महावीर के गणों के साथ भी जोड़ दिये गये हों ।

एक गण जो बाकी रहता है, उसका नामकरण स्यात् स्थविर आर्य सुहस्ती के बारह अंतेवासियों में से चौथे कामिइडि नामक श्रमण-श्रेष्ठ के नाम पर कर दिया गया हो, जो अपने समय के सुविख्यात आचार्य थे, जिनसे वेसवाडिय नामक गण निकला था ।

स्पष्टतया कुछ भी अनुमान नहीं लगाया जा सकता—ऐसा क्यों किया गया । हो सकता है, उत्तरवर्ती गणों पर प्रतिष्ठापन्नता का मुलम्मा चढ़ाने के लिए यह स्थापित करने का उपक्रम रहा हो कि भगवान् महावीर के गण भी इन्हीं नामों से अभिहित होते थे ।

एक सम्भावना हम और कर सकते हैं—यद्यपि है तो बहुत दूरवर्ती, स्यात् भगवान् महावीर के नौ गणों में से प्रत्येक में एक-एक ऐसे उकृष्ट साधना-निरत, महातपा, परमज्ञानी, ध्यानयोगी साधक रहे हों, जो जन-सम्पर्क से दूर रहने के नाते बिल्कुल प्रसिद्धि में नहीं आये, पर जिनकी उच्चता और पवित्रता असाधारण तथा स्पृहणीय थी । उनके प्रति श्रद्धा, आदर और बहुमान दिखाने के लिए उन गणों का नामकरण जिन-जिनमें वे थे, उनके नामों से कर दिया गया हो ।

उत्तरवर्ती समय में संयोग कुछ ऐसे बने हों कि उन्हीं नामों के आचार्य हुए हों, जिनमें अपने नामों के साथ प्राप्त गणों के नामों का साम्य देखकर अपने-अपने नाम से नये गण प्रवर्तित करने का उत्साह जागा हो ।

आचार्यप्रवचन अभिनन्द श्रीमानन्दर श्रीआनन्दर श्रीआनन्दर श्रीआनन्दर



१२० इतिहास और संस्कृति

ये सब मात्र कल्पनाएँ और सम्भावनाएँ हैं। इस पहलू पर और गहराई से चिन्तन और अन्वेषण करना अपेक्षित है।

तिलोयपण्णत्ति में गण का वर्णन

तिलोयपण्णत्ति में भी गण का उल्लेख हुआ है। वहाँ कहा गया है—

“पुव्वधर सिक्खकोही केवलिवेकुव्वी विउलमदिवादी।

पत्तेकं सत्तगणा, सव्वाणं तित्थकत्ताणं ॥” १०६८

सभी तीर्थकरों में से प्रत्येक के पूर्वधर, शिक्षक, अवधिज्ञानी, केवली, वैक्रियलब्धिधर, विपुलमति और वादी श्रमणों के सात गण होते हैं।

भगवान महावीर के सात गणों का वर्णन करते तिलोयपण्णत्तिकार लिखते हैं—

तिसयाइं पुव्वधरा, णवणउदिसयाइं ह्ठींति सिक्खगणा।

तेरससयाणि ओही सत्तसयाइं पि केवलिणो ॥११६०॥

इगिसयरहिदसहस्सं, वेकुव्वी पणसयाणि विउलमदी।

चत्तारिसया वादी, गणसंखा वड्डमाणजिणे ॥११६१॥

भगवान महावीर के सात गणों में उन उन विशेषताओं वाले श्रमणों की संख्याएँ इस प्रकार थीं— पूर्वधर तीनसौ, शिक्षक नौ हजार नौ सौ, अवधिज्ञानी एक हजार तीन सौ, केवली सात सौ, वैक्रियलब्धिधर नौ सौ, विपुलमति पाँच सौ तथा वादी चार सौ।

प्रस्तुत प्रकरण पर विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यद्यपि ‘गण’ शब्द का प्रयोग यहाँ अवश्य हुआ है पर वह संगठनात्मक इकाई का द्योतक नहीं है। इसका केवल इतना-सा आशय है कि भगवान महावीर के शासन में अमुक-अमुक वैशिष्ट्य सम्पन्न श्रमणों के अमुक-अमुक संख्या के समुदाय या समूह थे अर्थात् उनके संघ में इन-इन विशेषताओं के इतने श्रमण थे।

केवलियों, पूर्वधरों और अवधिज्ञानियों के तथा इसी प्रकार अन्य विशिष्ट गुणधारी श्रमणों के अलग-अलग गण होते, यह कैसे सम्भव था। यदि ऐसा होता तो सभी केवली एक ही गण में होते। वहाँ किसी तरह की तरतमता नहीं रहती। न शिक्षक-शैक्ष भाव रहता और न व्यवस्थात्मक संगति ही। यहाँ गण शब्द मात्र एक सामूहिक संख्या व्यक्त करने के लिए व्यवहृत हुआ है। श्वेताम्बर वाङ्मय में भी इस प्रकार के वैशिष्ट्य-सम्पन्न श्रमणों का उल्लेख हुआ है।^१

केवली, अवधिज्ञानी, पूर्वधर और वादी—इनकी दोनों परम्पराओं में एक समान संख्या मानी गई है। वैक्रियलब्धिधर की संख्या में दो सौ का अन्तर है। तिलोयपण्णत्ति में वे दो सौ अधिक माने गये हैं।

उक्त विवेचन से बहुत साफ है कि तिलोयपण्णत्तिकार ने गण का प्रयोग सामान्यतः प्रचलित अर्थ-समूह या समुदाय में किया है।

१. केवली सात सौ, मनःपर्यवज्ञानी पाँच सौ, अवधिज्ञानी तेरह सौ, चौदह पूर्वधारी तीन सौ, वादी चार सौ, वैक्रियलब्धिधारी सात सौ, अनुत्तरोपपातिक मुनि आठ सौ।

—जैनधर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ४७३

शाखाएँ

गणों के साथ-साथ शाखाओं का भी वर्णन मिलता है, जिनकी चर्चा यहाँ अपेक्षित है।

आचार्य भद्रबाहु के शिष्यों में एक का नाम गोदास था। उनसे गोदास नामक गण निकला। ऐसा उल्लेख किया जा चुका है। कल्प-स्थविरावली में ऐसा भी वर्णन है कि गोदास गण से चार शाखाएँ निकलीं, जिनके निम्नांकित नाम थे—

१. ताम्रलिप्तिका
२. कोटिवर्षीया
३. पौण्ड्रवर्धनीया
४. दासीकर्पटिका

शाखाओं के इन नामों से प्रकट है कि इनके नामकरण के आधार स्थान-विशेष हैं। प्रतीत होता है कि जिन श्रमणों का जिस स्थान के इर्द-गिर्द अधिक विहार तथा प्रवास होता रहा, उन श्रमणों या उनके दल का उस स्थान से सम्बद्ध नाम पड़ गया। यहाँ उल्लिखित शाखाओं का सम्बन्ध क्रमशः ताम्रलिप्ति, कोटिवर्ष, पौण्ड्रवर्धन तथा दासीकर्पट नामक स्थानों से प्रतीत होता है।

ऐसा भी लगता है कि क्षेत्र-विशेष में विशेष प्रवासन पर्यटन के कारण सम्बद्ध गण के अन्य श्रमणों से अधिक सम्पर्क नहीं रह सका। फलतः भिन्न-भिन्न शाखाएँ मूल गण से अपने को सर्वथा विच्छिन्न न मानते हुए भी व्यवस्था, अनुशासन, पठन-पाठन आदि की दृष्टि से पृथक्-सी हो गई हों।

जिस प्रकार गोदास गण से उपर्युक्त शाखाएँ निकलीं, उसी प्रकार उत्तरवर्ती समय में प्रतिष्ठित होने वाले अन्यान्य गणों से भी शाखाओं के निकलते रहने का क्रम चालू रहा।

कुल

श्रमणों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई। गणों के रूप में जो इकाइयाँ निष्पन्न हुई थीं उनका रूप भी विशाल होता गया। तब स्यात् गण व्यवस्थापकों को वृहत् साधु-समुदाय की व्यवस्था करने में कुछ कठिनाइयों का अनुभव हुआ हो। क्योंकि अनुशासन में बने रहना बहुत बड़ी सहिष्णुता और धैर्य की अपेक्षा रखता है। हर कोई अपने उद्दीप्त अहं का हनन नहीं कर पाता। अनेक ऐसे कारण हो सकते हैं, जिनसे व्यवस्था-क्रम में कुछ और परिवर्तन आया। जो समुदाय गण के नाम से अभिहित होते थे, वे कुलात्मक इकाइयों में विभक्त हुए।

इसका मुख्य कारण एक और भी है। जहाँ प्रारम्भ में बिहार और उसके आस-पास के क्षेत्र में जैन धर्म प्रसृत था, उसके स्थान पर उसका प्रसार क्रम तब तक काफी बढ़ चुका था। श्रमण दूर-दूर के क्षेत्रों में बिहार, प्रवास करने लगे थे। जैन श्रमण बाह्य साधनों का मर्यादित उपयोग करते थे, अब भी वैसा है। अतएव यह सम्भव नहीं था कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में पर्यटन करने वाले मुनिगण का पारस्परिक सम्पर्क बना रहे। दूरवर्ती स्थान से आकर मिल लेना भी सम्भव नहीं था, क्योंकि जैन श्रमण पद-यात्रा करते हैं। ऐसी स्थिति में जो-जो श्रमण-समुदाय विभिन्न स्थानों पर बिहार करते थे, वे दीक्षार्थी मुमुक्षु जनों को स्वयं अपने शिष्य रूप में दीक्षित करने लगे। उनका दीक्षित श्रमण-समुदाय उनका कुल कहलाने

आचार्यप्रवचन अभिनन्दन आचार्यप्रवचन अभिनन्दन
श्रीआनन्दश्रेष्ठ अन्धशुभ्र श्रीआनन्दश्रेष्ठ अन्धशुभ्र



१२२ इतिहास और संस्कृति

लगा। यद्यपि ऐसी स्थिति आने से पहले भी स्थविर-श्रमण दीक्षाथियों को दीक्षित करते थे परन्तु दीक्षित श्रमण मुख्य पट्टधर या आचार्य के ही शिष्य माने जाते थे। परिवर्तित दशा में ऐसा नहीं रहा। दीक्षा देने वाले दीक्षा गुरु और दीक्षित उनके शिष्य—ऐसा सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया। इससे संघीय ऐक्य की परम्परा विच्छिन्न हो गई और कुल के रूप में एक स्वायत्त इकाई प्रतिष्ठित हो गई।

भगवती सूत्र की वृत्ति में आचार्य अभयदेवसूरि एक स्थान पर कुल का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं।

“एतत् कुलं विष्णवेयं, एगायरियस्स संतई जाउ।

तिण्ह कुलाणमिहं पुण, सावेक्खाणं गणो होई।”

(एतत् कुलं विष्णवेयम्, एकाचार्यस्य सन्ततिर्यातु।

त्रयाणां कुलानामिह पुनः सापेक्षाणां गणं भवति ॥)

एक आचार्य की सन्तति या शिष्य-परम्परा को कुल समझना चाहिए। तीन परस्पर सापेक्ष कुलों का एक गण होता है।

पंचवस्तुक टीका^१ में तीन कुलों के स्था^२ पर परस्पर-सापेक्ष अनेक कुलों के श्रमणों के समुदाय को गण कहा है।

प्रतीत होता है कि उत्तरोत्तर कुलों की संख्या बढ़ती गई। छोटे-छोटे समुदायों के रूप में उनका बहुत विस्तार होता गया। यद्यपि कल्पस्थविरावली में जिनका उल्लेख हुआ है, वे बहुत थोड़े से हैं पर जहाँ कुल के श्रमणों की संख्या नौ तक मान ली गई, उससे उक्त तथ्य अनुमेय है। पृथक्-पृथक् समुदायों या समूहों के रूप में विभक्त रहने पर भी ये भिन्न-भिन्न गणों से सम्बद्ध रहते थे। एक गण में कम से कम तीन कुलों का होना आवश्यक था। अन्यथा गण की परिभाषा में वह नहीं आता। इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक गण में कम से कम तीन कुल अर्थात् तदन्तर्वर्ती कम-से कम सत्ताईस साधु तथा एक उनका अधिनेता, गणपति या आचार्य—कुल अट्ठाईस सदस्यों का होना आवश्यक माना गया। ऐसा होने पर ही गण को प्राप्त अधिकार उसे मुलभ हो सकते थे। यह न्यूनतम संख्या-क्रम है। इससे अधिक चाहे जितनी बड़ी संख्या में श्रमण वृन्द उसमें समाविष्ट हो सकते थे।

गणों एवं कुलों का पारस्परिक सम्बन्ध, तदाश्रित व्यवस्था आदि का एक समय विशेष तक प्रवर्तन रहा। मुनि पं० श्री कल्याण विजय जी युगप्रधान-शासन-पद्धति के चलने तक गण व कुलमूलक परम्परा के चलते रहने की बात कहते हैं। पर युगप्रधान-शासन-पद्धति यथावत रूप में कब तक चली, उसका संचालन-क्रम किस प्रकार का रहा—इत्यादि बातें स्पष्ट रूप में अब तक प्रकाश में नहीं आ सकी हैं। अतः हम काल की इयत्ता में इसे नहीं बाँध सकते। इतना ही कह सकते हैं, सघ संचालन या व्यवस्था-निर्वाह के

१. भगवती सूत्र, शतक ८, उद्देशक ८ वृत्ति

२. परस्परसापेक्षाणामनेककुलानां साधूनां समुदाये।

—पंचवस्तुक टीका द्वार १

रूप में यह क्रम चला, जहाँ मुख्य इकाई गण था और उसकी पूरक इकाइयाँ कुल थे। इनमें पारस्परिक समन्वय एवं सामंजस्य था, जिससे संघीय शक्ति विघटित न होकर संगठित बनी रही।

गच्छ

जैन संघ की उत्तरकालीन संघ-व्यवस्था या श्रमण-संगठन के सन्दर्भ में हम देखते हैं कि आगे चलकर गण और कुल का स्थान गच्छ ले लेते हैं। यद्यपि गच्छ शब्द नये रूप में आविर्भूत नहीं हुआ था, पुरातन परम्परा में यह प्राप्य है, परन्तु जिस अर्थ में पश्चाद्वर्ती काल में इसका प्रयोग होने लगा, वैसा प्रयोग पहले नहीं होता था। सार्वजनीन रूप में व्यवहृत गण शब्द के साथ-साथ गच्छ शब्द का भी कहीं-कहीं प्रयोग प्राप्त होता है। पर इसका व्यापक प्रचलन नहीं था।

जीवानुशासन में एक आचार्य के परिवार को गच्छ कहा गया है। औपपातिक में भी ऐसा ही उल्लेख है। पञ्चाशक में एक आचार्य के अन्तेवासी साधु-समुदाय को गच्छ के नाम से अभिहित किया गया है। जीवानुशासन और पञ्चाशक में की गई परिभाषाओं में कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता। बृहत्कल्पभाषा की टीका में गच्छ के विषय में विशेष बातें कही गई हैं, जो इस प्रकार हैं

“तिगसाइया गच्छा, सहस्स बत्तीसई उसभेण । त्रिकादयस्त्रिचतुः प्रभृतिपुरुषपरिमाणा गच्छा भवेयुः । किमुक्तं भवति ? एकस्मिन् गच्छे जघन्यतस्त्रयो जना भवन्ति, गच्छस्य साधुसमुदायरूपत्वात्तस्य च त्रयाणामधस्तादभावादिति । तत ऊर्ध्वं ये चतुः पञ्चप्रभृति पुरुषसंख्याका गच्छास्ते मध्यमपरिमाणतः प्रतिपत्तव्यास्तावद्यावदुत्कृष्टं परिमाणं न प्राप्नोति । किं पुनस्तद् ? इति चेदत आह (सहस्स बत्तीसई उसभेणत्ति) द्वात्रिंशत्सहस्राण्येकस्मिन् गच्छे उत्कृष्टं साधूनां परिमाणं, यथा श्रीऋषभस्वामिप्रथम-गणधरस्य भगवत ऋषभसेनस्येति ।”^१

इस विवेचन के अनुसार गच्छ में कम से कम तीन साधुओं का होना आवश्यक है। उससे अधिक चार-पाँच आदि भी हो सकते हैं। इस प्रकार के गच्छ मध्यम परिमाण के कहे जाते हैं। गच्छान्तर्वर्ती साधुओं की अधिकतम संख्या का परिमाण बत्तीस हजार है।

टीकाकार ने इस प्रसंग में प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभ के प्रथम गणधर ऋषभसेन की चर्चा की है और उनके गच्छ को उत्कृष्टतम संख्या के उदाहरण के रूप में उपस्थित किया है। गहराई से सोचने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहाँ प्रयुक्त ‘गच्छ’ शब्द तीर्थंकर के एक गणधर द्वारा अनुशासित गण के अर्थ में है।

आगे जाकर गच्छ बहुत प्रचलित हो गया और भिन्न-भिन्न कारणों से भिन्न-भिन्न नामों के गच्छों का प्रचलन हुआ।

टीकाकारों ने गच्छ, कुल आदि के विश्लेषण के प्रसंग में गच्छों के समूह को कुल बतलाया है।

१. बृहत्कल्पभाष्य प्रथम उद्देशक वृत्ति (मलयगिरि)
२. बहूनां गच्छानामेकजातीयानां समूहे ।

—धर्मसंग्रह सटीक अधिकरण ३

आचार्यप्रवचन अभिनन्दन आचार्यप्रवचन अभिनन्दन
श्रीआनन्दश्री अन्धशु श्रीआनन्दश्री अन्धशु



१२४ इतिहास और संस्कृति

पर इसका आशय स्पष्ट नहीं होता, क्योंकि कुल स्वयं अपने आपमें एक सीमित समुदाय था, जो गण का भाग था। ऐसी स्थिति में गच्छों का समूह कुल हो, यह कम सम्भव प्रतीत होता है। यदि ऐसा हो तो यह कुल रूप सीमित इकाई का और अधिक सीमित भाग होगा। गच्छ का प्रयोग जिस अर्थ में हम पाते हैं, उससे यह तात्पर्य सिद्ध नहीं होता। वहाँ वह गण जैसे एक समग्र समुदाय का बोधक है।

जैन संघ के संगठन के समय-समय पर परिवर्तित होते रूपों का यहाँ दिग्दर्शन मात्र कराया गया है।

जैन संघ में पद

श्रमण-जीवन का सम्यक्तया निर्वाह, धर्म की प्रभावना, ज्ञान की आराधना, साधना का विकास तथा संगठन व अनुशासन की दृढ़ता आदि के निमित्त जैन संघ में निम्नांकित पदों के होने का उल्लेख प्राप्त होता है।^१

- | | | | |
|-----------|-------------|----------------|-----------|
| १. आचार्य | २. उपाध्याय | ३. प्रवर्तक | ४. स्थविर |
| ५. गणी | ६. गणधर | ७. गणावच्छेदक। | |

इनमें आचार्य का स्थान सर्वोपरि है। संघ का सर्वतोमुखी विकास, संरक्षण, संवर्धन, अनुशासन आदि का सामूहिक उत्तरदायित्व आचार्य पर होता है।

जैन वाङ्मय के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि जैन संघ में आचार्य पद का आधार मनोनयन रहा, निर्वाचन नहीं। भगवान महावीर का अपनी प्राक्तन परम्परा के अनुरूप इसी ओर झुकाव था।

भगवान महावीर के समसामयिक धर्म-प्रवर्तकों या धर्म-नायकों में महात्मा बुद्ध का संघ उल्लेखनीय था, जिसका बौद्ध साहित्य में विस्तृत विवेचन है। संख्या की दृष्टि से मंखलिपुत्र गौशालक का संघ भी बहुत बड़ा था पर उसके नियमन, अनुशासन, संगठन आदि के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त नहीं है।

भगवान महावीर और बुद्ध की संघीय व्यवस्था के सन्दर्भ में तुलनात्मक रूप में विचार किया जाए, यह उपस्थित प्रसंग के स्पष्टीकरण की दृष्टि से उपयोगी होगा।

भगवान बुद्ध का भिक्षु-संघ

भगवान बुद्ध एक विशाल भिक्षु-संघ के अधिनायक थे। 'ललित विस्तर' में उल्लेख है, श्रावस्ती में भगवान बुद्ध के साथ १२ सहस्र भिक्षु थे। सामञ्जफलसुत्त में भगवान बुद्ध के साथ राजगृह में १२५० भिक्षुओं का होना लिखा है। तात्पर्य यह है, भगवान बुद्ध के जीवन-काल में ही उनका भिक्षु-संघ बहुत वृद्धिगत हो चुका था।

भगवान बुद्ध प्रजातान्त्रिक संघ-व्यवस्था में विश्वास करते थे। यही कारण है, उन्होंने न कोई अपना उत्तराधिकारी निश्चित किया और न धर्म-शासन के लिए कोई पद-व्यवस्था ही की। उन्होंने अधिशासन, संचालन एवं अधिकार-सत्ता का अधिष्ठान विनय एवं धम्म को माना।

१. (क) स्थानांग सूत्र ४, ३, ३२३ वृत्ति

(ख) बृहत्कल्प सूत्र ४ था उद्देशक

भगवान महावीर की संघीय शासन-व्यवस्था से भगवान बुद्ध की व्यवस्था में अन्तर था। महावीर वैयक्तिक अधिकार में विश्वास करते थे। अधिकारी, योग्य व्यक्ति के संचालकत्व एवं अधिनायकत्व में उन्हें संघ का चिरहित दीखता था। उन द्वारा की गई पद-व्यवस्था से यह अनुमेय है। बुद्ध ने अपने संघ में वैयक्तिक नेतृत्व, अधिकार या वैशिष्ट्य को स्थान नहीं दिया।

एक बार गोपक मोग्गलान ने आनन्द से पूछा—“भद्र आनन्द ! क्या कोई ऐसा भिक्षु है, जिसे तथागत ने यह कहते हुए कि मेरे निर्वाण के अनन्तर यह तुम लोगों का सहारा होगा, इसका तुम अवलम्बन लोगे, मनोनीत किया ?

आनन्द का उत्तर था—“कोई ऐसा श्रमण या ब्राह्मण (भिक्षु) नहीं है, जिसे पूर्णत्व प्राप्त, स्वयं बोधित भगवान ने यह कहते हुए कि मेरे निर्वाण के अनन्तर यह तुम लोगों का सहारा होगा, जिसका अवलम्बन हम लोग ले सकें, मनोनीत किया।”

गोपक मोग्गलान ने पुनः पूछा—“पर क्या आनन्द ! ऐसा कोई भिक्षु है, जिसे संघ ने स्वीकार किया हो और अनेक वृद्ध भिक्षुओं द्वारा जिसके सम्बन्ध में यह कहते हुए व्यक्त किया गया हो कि तथागत के निर्वाण के अनन्तर यह हमारा सहारा होगा, जिसका तुम अवलम्बन ले सकते हो।”

आनन्द ने कहा—“ऐसा कोई भी श्रमण ब्राह्मण नहीं है, जिसे संघ ने माना हो……और जिसका अब हम अवलम्बन ले सकते हैं।”^१

इस वार्तालाप से स्पष्ट है, भगवान बुद्ध ने अपने पश्चात् किसी को भी संघ-संचालन का भार वहन करने के लिए मनोनीत नहीं किया और न संघ ने तथा स्थविर भिक्षुओं ने ही ऐसा किया।

धम्मसेनापति, धम्मधर, विनयधर

बौद्ध वाङ्मय में “धम्म सेनापति”, “धम्मधर” और “विनय-धर” ये पदसूचक शब्द प्राप्त होते हैं। वस्तुतः ये भिक्षु-संघ के शासन से सम्बद्ध नहीं हैं। ये धर्म और विनय सम्बन्धी वैयक्तिक योग्यता पर आधृत हैं।

धर्म के ज्ञाता को धम्मधर कहा जाता था। भगवान बुद्ध के निकटतम अन्तेवासी आनन्द के लिये यह विशेषण प्रयुक्त मिलता है। आनन्द को भगवान बुद्ध के सान्निध्य में सबसे अधिक रहने का अवसर मिला था। (उन्होंने भगवान बुद्ध द्वारा निरूपित धर्म-सिद्धान्तों का कथन भी किया था)।

“धम्म-सेनापति” धर्म-तत्त्व की अत्यधिक अभिज्ञता पर आधृत है। सारिपुत्र एवं मोग्गलान इस कोटि में लिये गये हैं। भगवान बुद्ध के जीवन काल में भी उन्होंने यदा-कदा धर्मोपदेश किया, जिसे भगवान बुद्ध ने समर्थन दिया था।

विनयधर उसे कहा जाता था, जो विनय भिक्षु-आचार के सिद्धान्तों का विशेष ज्ञाता होता था। उपालि का विनयधर के रूप में उल्लेख हुआ है।

१. द मिडिल लैथ सेइंग वाल्यूम ३, पृ० ५९-६०

आचार्य प्रवचन अभिनन्दन आचार्य प्रवचन अभिनन्दन
श्री आनन्द त्रे अन्ध ११ श्री आनन्द त्रे अन्ध ११



लिच्छवि गणतन्त्र का प्रभाव

भगवान बुद्ध के भिक्षु संघ की व्यवस्था लिच्छवि गणतन्त्र से थोड़े से परिवर्तन के साथ बहुत अंशों में मिलती-जुलती थी। सम्भव है, लिच्छवि-शासन-परम्परा से बुद्ध ने इसे ग्रहण किया हो।

स्वयं लिच्छवि-राजकुमार होने से भगवान महावीर एक वंशीयता के नाते लिच्छवियों के अधिक निकट थे, पर पालिपिटकों से प्रकट है, लिच्छवियों का बुद्ध की ओर कहीं अधिक झुकाव था।

डा० भगवतशरण उपाध्याय ने भारत के प्राचीन गणराज्यों का वर्णन करते हुए लिच्छवियों के सम्बन्ध में लिखा है—

“लिच्छवि अपने संघ की बैठकों के लिए प्रसिद्ध थे। उनकी बैठकों में शासन के कार्य अत्यन्त सुचारु रूप और एकता से सम्पन्न होते थे। गौतम बुद्ध ने उनको बहुत सराहा था।”

लिच्छवियों के बुद्ध की ओर विशेष झुकाव का कारण बुद्ध के भिक्षु-संघ की प्रजातान्त्रिक व्यवस्था का होना प्रतीत होता है।

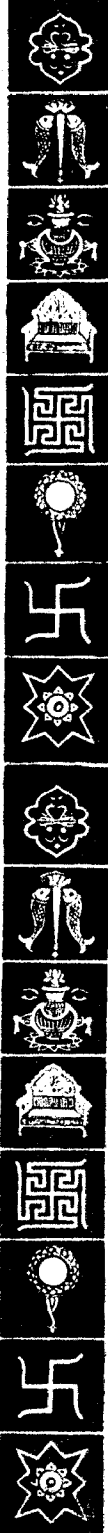
लिच्छवि अपनी जनतान्त्रिक परम्परा के कारण शासक-शासित का भेद जहाँ न हो, उधर विशेष आकृष्ट रहे, यह सहज था। अधिकारी और अधिकृत बड़े और छोटे का भेद सह सकने के लिच्छवि अभ्यस्त नहीं थे। बुद्ध की संघ-व्यवस्था यदि एकतान्त्रिकता या व्यक्तिनिष्ठ अधिकारसत्ता की ओर झुकी होती तो यह कम सम्भव था, वे बुद्ध की ओर आकृष्ट रहते।

लिच्छवियों की इस मनोवृत्ति का परिचय वज्जिपुत्तक-भिक्षु, जो लिच्छवि वंश के थे, के उस कदम से मिलता है, जो उन्होंने द्वितीय बौद्ध संगीति के अवसर पर उठाया था। ज्यों ही उन्हें लगा, भिक्षु-संघ में बड़े छोटे का भेद उत्पन्न हो रहा है, उनके स्वतंत्र अस्तित्व पर इतर-आधिपत्य छा जाना चाहता है, वज्जिपुत्तक भिक्षु-संघ से पृथक् हो गये और उन्होंने स्वतन्त्र रूप से वज्जिपुत्तक संघ का प्रवर्तन किया।

महावीर भी यद्यपि प्रजातान्त्रिक परम्परा से आए थे पर उन्हें नहीं लगा, श्रमण संघ प्रजातान्त्रिक पद्धति के अनुसार चिरकाल तक अपना यथावत् अस्तित्व लिये निर्द्वन्द्व रूप में चल सकेगा। इस व्यवस्था में उन्हें धर्म-संघ का चिर जीवन नहीं दीखता था। भविष्य ने कुछ बताया भी वैसा ही। जैन श्रमण संघ आज सहस्राब्दियों बीतने को आई, बहुत अंशों में अक्षुण्ण रहा, बौद्ध भिक्षु संघ बुद्ध के थोड़े ही समय बाद विशृंखल होने लगा। भगवान बुद्ध से सम्राट अशोक तक आते-आते वह अनेक खण्डों में बंट गया। विचार-प्रसार की दृष्टि से केवल भारत ही नहीं, समुद्र पार के देशों तक पहुँचकर उसने असाधारण सफलता प्राप्त की पर उसकी मौलिकता स्थिर नहीं रही।

तब से अब तक का इतिहास साक्षी है, जहाँ एकतंत्री शासक खरा, ईमानदार और सेवाशील रहा, वहाँ राष्ट्र, समाज और धर्म ने चतुर्दिक उन्नति की। अति-प्रजातान्त्रिकता में परिवर्तन पर परिवर्तन आये, शासन जम नहीं पाया। विषाक्त प्रतिस्पर्धा भी वहाँ शान्ति का सांस नहीं लेने देती। धर्म-क्षेत्र में यह फल सके, क्या यह सम्भव है।

१. प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ ६८





संघीय पद : एक विश्लेषण

आचार्य के अतिरिक्त जो अन्य पद निर्धारित थे, उनका लक्ष्य आचार्य के कार्य में सहयोग करना था, जिससे संघ के साधु-साधवियों का अध्ययन, उनके चातुर्मास, विहार, शेषकालिक प्रवास, वस्त्र-पात्र प्रभृति आपेक्षित उपकरणों की व्यवस्था—यह सब समीचीन रूप में सध सके।

जैन साहित्य के आधार पर इन पदों के उत्तरदायित्व, कर्तव्य आदि के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से लिखना उपयोगी होगा। पदों के कर्तव्य-निर्धारण में स्वस्थ तथा विकसित संघीय जीवन के उन्नयन की कितनी सूक्ष्म दृष्टि थी, इससे यह स्पष्ट होगा।

आचार्य

संघ की सब प्रकार की देखभाल का मुख्य उत्तरदायित्व आचार्य पर रहता है। संघ में उनका आदेश अन्तिम और सर्वमान्य होता है।

“आचार्य सूत्रार्थ के वेत्ता होते हैं। वे उच्च लक्षण युक्त होते हैं। वे गण के लिए मेढिभूत-स्तम्भ रूप होते हैं। वे गण के ताप से मुक्त होते हैं—उनके निर्देशन में चलता गण सन्ताप-रहित होता है, वे अन्तेवासियों को आगमों की अर्थ-वाचना देते हैं—उन्हें आगमों का रहस्य समझाते हैं।”

“आचार्य ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्र्याचार, तप-आचार तथा वीर्याचार का स्वयं परिपालन करते हैं, इनका प्रकाश-प्रसार करते हैं, उपदेश करते हैं, दूसरे शब्दों में वे स्वयं आचार का पालन करते हैं तथा अन्तेवासियों से वैसा करवाते हैं, अतएव आचार्य कहे जाते हैं।”

और भी कहा गया है—

आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि ।

स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तैन कथ्यते ॥

अर्थात् जो शास्त्रों के अर्थ का आचयन—संचयन—संग्रहण करते हैं, स्वयं आचार का पालन करते हैं, दूसरों को आचार में स्थापित करते हैं। इन कारणों से वे आचार्य कहे जाते हैं।

आचार्य की आठ सम्पदाएँ

दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र में आचार्य की विशेषताओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। वहाँ आचार्य की आठ सम्पदाएँ बतलाई गई हैं, जो निम्नांकित हैं।^१

१. सुत्तत्थविऊ लक्खणजुत्तो, गच्छस्स मेढिभूओ य ।
गणतत्तिविप्पमुक्को, अत्थं वाएइ आयरिओ ॥
—भगवती सूत्र १. १. १ मंगलाचरण (वृत्ति)
२. पंचविहुं आयारं, आयरमाणा तथा पयासंता ।
आचारं दसता, आयरिया तेण वुच्चंति ॥
—भगवती सूत्र १, १, १ मंगलाचरण (वृत्ति)
३. दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, अध्ययन ४, सूत्र १

आचार्यप्रवचन अभिरुद्धे श्रीआनन्दरौ अन्धरुद्धे

१२८ इतिहास और संस्कृति

- | | | |
|----------------------|--------------------|----------------|
| १. आचार-सम्पदा | २. श्रुत-सम्पदा | ३. शरीर-सम्पदा |
| ४. वचन-सम्पदा | ५. वाचना-सम्पदा | ६. मति-सम्पदा |
| ७. प्रयोग-सम्पदा तथा | ८. संग्रह-सम्पदा । | |

आचार सम्पदा

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, आचार-प्रवणता आचार्य का मुख्य गुण है। आचार्य शब्द प्रायः इसी आधार पर निष्पन्न हुआ है। आचार-सम्पदा में इसी आचार-पक्ष का विश्लेषण है, जिसके चार भेद^१ कहे गये हैं।

(१) संयम-ध्रुवयोग युक्तता—संयम के साथ आत्मा का ध्रुव या अविचल सम्बन्ध संयम-ध्रुव-योग कहा जाता है। आचार्य संयम ध्रुवयोगी होते हैं। वे अपनी संयम-साधना में सदा अडिग रहते हैं।

(२) असंप्रगृहीतात्मता—जिसे जाति, पद, तप, वैदुष्य आदि का मद या अहंकार होता है, उसे संप्रगृहीतात्मा कहा जाता है। आचार्य निरहंकार होते हैं। जो गरिमाएँ उन्हें प्राप्त हैं। उनका जरा भी मद उन्हें नहीं होता। फलतः वे क्रोध, मानसिक उत्ताप आदि से मुक्त होते हैं। अतः वे असंप्रगृहीतात्मा कहे जाते हैं। अर्थात् उनकी आत्मा अहंकार, मद एवं क्रोध आदि से जकड़ी नहीं रहती।

(३) अनियतवृत्तता—जिनका आहार, विहार नियत या प्रतिबद्ध होता है, उनसे विशुद्ध आचार-मय जीवन भली-भाँति सघ नहीं पाता। अनेक प्रकार की औद्देशिकता का जुड़ना वहाँ सम्भावित होता है, जो निर्दोष संयम-पालन में बाधक है। अतः आचार्य अनियतवृत्ति होते हैं। शास्त्रीय आचार-परम्परा के अनुरूप उनका आचार अप्रतिबद्ध होता है।

(४) वृद्धशीलता—युवा और चिरदीक्षित न होने पर भी आचार्य में वयोवृद्ध और दीक्षा-मर्यादा में ज्येष्ठ श्रमणों जैसा शील, संयम, नियम, चारित्र आदि पालने की विशेषता होती है। अतः वे वृद्धशील कहे जाते हैं।

वृद्धशील का आशय यों भी हो सकता है—वृद्ध या रोग आदि के कारण जो वृद्ध की ज्यों अशक्त हो गये हैं, उन श्रमणों की सेवा या सुव्यवस्था में आचार्य सदा जागरूक रहते हैं।

श्रुत-सम्पदा

श्रुता सम्पदा का भी चार प्रकार से विवेचन किया गया है^२—

- | | |
|---------------------|-----------------------|
| (१) बहुश्रुतता | (३) परिचितश्रुतता |
| (२) विचित्र-श्रुतता | (४) घोषविशुद्धिकारकता |

बहुश्रुतता—आचार्य बहुश्रुत होते हैं। वे अपने समय में उपलब्ध आगम सम्यक्तया जानते हैं। अपने समय-सिद्धान्त या शास्त्रों के अतिरिक्त परसमय—अन्य शास्त्रों के भी वेत्ता होते हैं। यों उनका श्रुतशास्त्रीय ज्ञान बहुत विस्तीर्ण और व्यापक होता है।

१. दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, अध्ययन ४, सूत्र २

२. दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, अध्ययन ४, सूत्र ३

विचित्र-श्रुतता—आचार्य बहुश्रुत के साथ विचित्रश्रुत भी होते हैं। उन द्वारा अधिकृत श्रुत अनेक विचित्रताएँ या विभिन्नताएँ लिए होता है। आचार्य को जीव, मोक्ष आदि विषयों का निरूपण करने वाले विविध आगमों का अन्तःस्पर्शी ज्ञान होता है। वे उत्सर्ग, अपवाद आदि विभिन्न पक्षों को विशद रूप से जानते हैं। जिस प्रकार अपने सिद्धान्तों का अंग-प्रत्यंग उन्हें अधिगत होता है, उसी प्रकार अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों का भी उन्हें तलस्पर्शी बोध होता है।

परिचित-श्रुतता—आचार्य आगमों के रहस्यविद्-मर्मज्ञ होते हैं। वे सूत्र और अर्थ दोनों को भली-भाँति आत्मसात् किये हुए होते हैं। उनमें क्रम से—आदि से अन्त तक और उत्क्रम से—अन्त से आदि तक धारा-प्रवाह रूप में सूत्र-वाचन की क्षमता होती है। संक्षेप में आशय यह है कि आगमों का उन्हें चिर-परिचय, सूक्ष्म-परिचय और सम्यक्-परिचय होता है।

घोषविशुद्धिकारकता—घोष का अर्थ शब्द या ध्वनि है। आचार्य का शास्त्रोच्चारण अत्यन्त शुद्ध होता है। उदात्त, अनुदात्त, ह्रस्व, दीर्घ प्रमुख उच्चारण-सन्दर्भ सभी दृष्टियों से उनकी ध्वनि अत्यन्त निर्दोष होती है। इस विशेषता का एक आशय और है—अपने आप में अलंकृत, सत्य, प्रिय, हित, परिमित तथा प्रसंगानुरूप होना शब्द की सुषमा है। अलंकृतता, असत्यता, अप्रियता, अहितता, अपरिमितता तथा अप्रासंगिकता शब्द के दोष हैं। इनके वर्जन से घोष या शब्द विशुद्ध कहा जाता है। आचार्य की यह सहज विशेषता होती है। वे सुन्दर, सत्य, प्रिय, हित, परिमित और प्रसंगानुरूप शब्द बोलते हैं। श्रुत सम्पदा के अन्तर्गत यह उनका शब्दसौष्ठव है।

शरीर-सम्पदा

शरीर-सम्पदा या शारीरिक सुष्ठुता भी चार^१ प्रकार की मानी गई है—

- | | |
|---------------------------|-----------------------------|
| (१) आरोह-परिणाह-सम्पन्नता | (२) अनवत्राप्यशरीरता |
| (३) स्थिरसंहननता | (४) बहुप्रतिपूर्णेन्द्रियता |

(१) **आरोह-परिणाह-सम्पन्नता**—देह की समुचित लम्बाई और चौड़ाई को आरोह-परिणाह कहा जाता है। अपने पुण्योदय के कारण आचार्य के देह की यह विशेषता होती है।

(२) **अनवत्राप्यशरीरता**—अवत्राप्य का अर्थ लज्जायोग्य है। जो शरीर कुरूप, अंगहीन, घृणोत्पादक तथा उपहासजनक होता है, वह अवत्राप्यशरीर कहलाता है, जो हीन व्यक्तित्व का द्योतक है। आचार्य का शरीर इस प्रकार का नहीं होना चाहिए। वह सुरूप, सांगोपांग, सुन्दर तथा आकर्षक होना चाहिए।

(३) **स्थिरसंहननता**—आचार्य का दैहिक संहनन—शारीरिक गठन सुदृढ़ होना चाहिए। आचार्य पर जो संघ का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व होता है, उसके निर्वाह के लिए उनके सुदृढ़, स्थिर और सशक्त देह का होना भी आवश्यक है। ताकि अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में अनाकुल भाव से वर्तन किया जा सके।

(४) **बहुप्रतिपूर्णेन्द्रियता**—नेत्र, श्रोत्र, घ्राण आदि इन्द्रियों का सर्वथा निर्दोष, अपने अपने विषयों

१ दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, अध्ययन ४, सूत्र ४

आचार्यप्रवचन अभिनन्दन आचार्यप्रवचन अभिनन्दन
श्रीआनन्दरौ अशुद्ध श्रीआनन्दरौ अशुद्ध



१३० इतिहास और संस्कृति

के ग्रहण में सक्षम होना बहुप्रतिपूर्णन्द्रियता कहा जाता है। आचार्य में इसका होना अपेक्षित है। सर्वेन्द्रिय-परिपूर्णता में जहाँ देह की प्रभावकता फलित होती है, वहाँ उससे व्यक्ति की गम्भीरता भी प्रकट होती है। आचार्य में ऐसा होना चाहिए।

वचन-सम्पदा

वचन-सम्पदा चार^१ प्रकार की कही गई है—

- | | |
|-------------------|--------------------|
| (१) आदेयवचनता | (२) मधुरवचनता |
| (३) अनिश्रितवचनता | (४) असन्दिग्धवचनता |

(१) आदेयवचनता—जो वचन ग्रहण करने योग्य होता है, वह आदेय वचन कहा जाता है। ग्रहण करने योग्य वही वचन होता है, जिसमें उपयोगिता तथा श्रद्धेयता हो। आचार्य में आदेयवचनता की विशेषता होनी चाहिए, जिससे श्रोतृगण उनके वचनों की ओर सहजतया आकृष्ट हों, लामान्वित हों।

(२) मधुरवचनता—हितकरता और उपादेयता के साथ यदि वचन में मधुरता भी हो तो वह सोने में सुगन्ध जैसी बात है। लौकिक जन सहज ही माधुर्य और प्रेयस् की ओर अधिक आकृष्ट रहते हैं। यदि उत्तम बात भी अमधुर या कठोर वचन द्वारा प्रकट की जाय तो सुनने वाला उससे झिझकता है महान् कवि और नीतिविद भारवि ने इसीलिए कहा था—**हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः** अर्थात् ऐसा वचन दुर्लभ है, जो हितकर होने के साथ मनोहर भी हो। आचार्य में ऐसा होना सर्वथा वांछनीय है। इससे उनके आदेय वचनों की ग्राह्यता बहुत अधिक बढ़ जाती है।

(३) अनिश्रितवचनता—जो वचन राग, द्वेष या किसी पक्ष विशेष के आग्रह पर टिका होता है, वह निश्चित वचन कहा जाता है। वैसा वचन न वक्ता के अपने हित के लिए है और उससे श्रोतागण को ही कुछ लाभ हो सकता है। आचार्य निश्चितवचन-प्रयोक्ता नहीं होते। वे अनिश्रित वचन बोलते हैं, जिससे सर्वसाधारण का हित हो सकता है, जिसे सब आदरपूर्वक अंगीकार करते हैं।

(४) असन्दिग्धवचनता—स्फुटवचनता, तथ्य का साधक और अतथ्य का बाधक जो न हो, वैसा ज्ञान सन्देह कहलाता है। जो वचन उससे लिप्त है, वह सन्दिग्ध या अस्फुट है। आचार्य सन्दिग्ध अस्फुट या अस्पष्ट वचन का प्रयोग नहीं करते। वैसा करने से उपासकों की श्रद्धा घटती है। उनका किसी भी प्रकार से हित नहीं सधता। क्योंकि वचन के सन्देहयुक्त होने के कारण वे उधर आकृष्ट नहीं होते, फलतः आचार्य चाहे व्यक्त न सही, अव्यक्त रूप में उपेक्षणीय हो जाते हैं।

वाचना-सम्पदा

वाचना-सम्पदा के निम्नांकित चार^२ भेद हैं—

- | | |
|-------------------------|---------------------|
| (१) विदित्वोद्देशिता | (२) विदित्वा वाचिता |
| (३) परिनिर्वाप्य वाचिता | (४) अर्थनिर्यापकता |

१. दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, अध्ययन ४, सूत्र ५

२. दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, अध्ययन ४, सूत्र ६

विदित्त्वोद्देशिता—पहले उल्लेख किया गया है कि आचार्य अन्तेवासियों को श्रुत की अर्थ-वाचना देते हैं। वाचना-सम्पदा में इसी सन्दर्भ में कतिपय महत्वपूर्ण विशेषताएँ बतलाई गई हैं। उनमें पहली विदित्त्वाद्देशिता है। इसका सम्बन्ध अध्येता या वाचना लेने वाले अन्तेवासी से है। अध्येता का विकास किस कोटि का है, उसकी ग्राहक शक्ति कैसी है, किस आगम में उसका प्रवेश सम्यक् है, इत्यादि पहलुओं को दृष्टि में रखकर आचार्य अन्तेवासी को पढ़ाने का निश्चय करते हैं। इसका आशय यह है कि अध्येता की क्षमता को आँकने की आचार्य में विशेष सूझबूझ होती है।

विदित्त्वा वाचिता—उक्त रूप में अन्तेवासी की योग्यता तथा धारणा शक्ति को आँक कर उसे प्रमाण, नय, हेतु, दृष्टान्त तथा युक्तिपूर्वक अर्थ-वाचना देना विदित्त्वा वाचिता है।

परिनिर्वाप्य वाचिता—अन्तेवासी अध्यापित विषयों को असन्दिग्ध रूप से हृदयंगम कर सका है, उसकी स्मृति में वे स्थिर हो चुके हैं, यह जानकर उसे वाचना देना परिनिर्वाप्य वाचिता है। अध्यापयिता को ऐसा करना आवश्यक है क्योंकि यदि पूर्व अध्यापित विषय अध्येता को यथावत् रूप में तैयार नहीं हो सके हों और उस ओर ध्यान दिये बिना आगे से आगे पढ़ाते जाना अध्येता के लिए लाभजनक नहीं होता है। यों अध्यापयिता को वृथा श्रम होता है। उसका अभीप्सित फल नहीं होता।

अर्थनिर्यापकता—सूत्र-अध्यापयिता के लिए आवश्यक है कि सूत्र-निरूपित जीव, अजीव, आस्रव, सम्बर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष, प्रभृति विषयों का उसे पूर्वापर-संगति सहित असन्दिग्ध-निर्णायक बोध हो। उत्सर्ग, अपवाद आदि का रहस्य उसे सम्यक् परिज्ञात हो अनेकान्तवादी दृष्टिकोण से ये समस्त विषय उस द्वारा आत्मसात् किये हुए हों। यह विषय का निर्यापन है। आचार्य में ऐसा अध्ययन-अनुशीलन होना अपेक्षित है। अपने इस प्रकार के अध्ययन-क्रम द्वारा अन्तेवासियों को अर्थ का अवबोध कराना अर्थ-निर्यापकता है।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जहाँ किसी कारणवश उपाध्याय के पद की व्यवस्था नहीं होती या सूत्र-वाचना का कार्य नहीं चलता, वहाँ आचार्य सूत्र-वाचना भी देते हैं। वे सूत्र और अर्थ दोनों की वाचना देने के कारण दोनों पदों का उत्तरदायित्व वहन करते हैं। भगवती वृत्ति^१ तथा व्यवहार भाष्य आदि में ऐसे उल्लेख प्राप्त हैं।

इतना ही नहीं, आवश्यक होने पर आचार्य अन्य पदों का भार भी स्वयं ले सकते हैं। वस्तुतः वे सर्वाधिकारी होते हैं।

मति-सम्पदा

मन का पदार्थ विषयक निर्णायक व्यापार मति है। मति-सम्पदा का अर्थ बुद्धि-वैशिष्ट्य है।

- १ आचार्येण सहोपाध्याय—आचार्योपाध्यायः,
सविसयंसि त्ति स्वविषयेऽर्थदान—सूत्रदानलक्षणे
गणं त्ति शिष्यवर्गम्, अगिलाए त्ति अखेदेन
संगृह्णन्-स्वीकुर्वन्-उपसृम्भयन्

—भगवती शतक ५, उद्देशक ६, प्रश्न १७ (वृत्ति)

आचार्यप्रवचन अभिनन्दन आचार्यप्रवचन अभिनन्दन
श्रीआनन्दरत्न अन्धकुर्वन् श्रीआनन्दरत्न अन्धकुर्वन्



१३२ इतिहास और संस्कृति

मति-सम्पदा के चार^१ भेद हैं—

- | | |
|-----------------------|----------------------|
| (१) अवग्रह-मति-सम्पदा | (२) ईहा-मति सम्पदा |
| (३) अवाय-मति सम्पदा | (४) धारणा-मति सम्पदा |

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा-मति-ज्ञान के परिणति—क्रम के ये चार सोपान हैं। सबसे पहले ज्यों ही इन्द्रिय किसी पदार्थ का साक्षात्कार करती है, तब उस (पदार्थ) का अति सामान्य ज्ञान होता है।

अवग्रहमति-सम्पदा—सामान्य का तात्पर्य उस बोध से है, जहाँ पदार्थ के स्वरूप, नाम, जाति आदि की कल्पना नहीं रहती, वे अनिर्दिष्ट रहते हैं। वह मनःस्थिति अवग्रह कही जाती है। अवग्रह को प्रशस्त क्षमता का होना अवग्रह-सम्पदा है। आचार्य में सहज ही यह विशेषता होती है।

ईहा-मति-सम्पदा—अवग्रह में ज्ञेय पदार्थ-विषयक अस्पष्ट मनःस्थिति रहती है। तब निश्चयोन्मुख जिज्ञासा का स्पन्दन होता है। मन तदनुरूप चेष्टोन्मुख बनता है। अवग्रह द्वारा गृहीत स्वरूपादि के वैशद्य से रहित अति सामान्य ज्ञान के पश्चात् विशेष ज्ञान की ओर ईहा—मननात्मक चेष्टा ज्ञान की निर्णीत स्थिति की ओर बढ़ते क्रम का रूप है। ऐसी उदात्त स्फुरणा का होना ईहा-सम्पदा कहा जाता है। आचार्य उत्कृष्ट ईहा-मति-सम्पदा से युक्त होते हैं।

अवाय-मति-सम्पदा—ईहा का उत्तरवर्ती क्रम अवाय है। ईहा चेष्टात्मक है, अवाय निश्चयात्मक। निर्णय पदार्थ के साधक और बाधक प्रमाण या गुणागुण-विश्लेषण के माध्यम से जो निश्चित मनःस्थिति बनती है, वह अवाय है। रज्जू और सर्प के उदाहरण से इसे समझा जा सकता है। अँधेरे में सहसा निश्चय नहीं हो पाता कि जिज्ञासित पदार्थ सर्प है या रज्जू। जब साधक प्रमाण द्वारा या स्पष्टता करने वाले हेतु द्वारा यह निश्चित रूप से अवगत हो जाता है कि यह रज्जू है, तब अवाय की स्थिति आ जाती है। अवाय तक सूक्ष्मतापूर्वक पहुँचना या यथावत् अवायात्मक-निश्चयात्मक स्थिति अधिगत कर लेने की विशिष्ट क्षमता अवाय-सम्पदा के नाम से अभिहित होती है, जो आचार्य में स्वभावतः होती है।

धारणा-मति सम्पदा—अवाय-क्रम में ज्ञान जिस निश्चिति में पहुँचता है, उसका टिकना, स्थिर रहना, स्मरण रखना धारणा है। इसे वासना या स्मृति भी कहा जाता है। यह संस्करात्मक है। मन के स्मृति-पट पर उम ज्ञान का एक भावात्मक रूप अंकित हो जाता है। दूसरे किसी समय वैसे पदार्थ को देखते ही पहले के पदार्थ की स्मृति जाग उठती है। यह जागने वाली स्मृति उभी संस्कार का फल है, जो उस पदार्थ के मत्यात्मक मनन-क्रम में मन पर अंकित हो गया था। धारणा, वासना या स्मृति का वैशिष्ट्य या वैभव धारणा-मति-सम्पदा है। आचार्य इसके धनी होते हैं।

जिसकी मननात्मक क्षमता जितनी अधिक विकसित होती है, उसे मति के इस उत्थान-क्रम में उतना ही वैशिष्ट्य प्राप्त रहता है। आचार्य में यह क्षमता अपनी विशेषता लिए रहती है। उदात्त व्यक्तित्व की दृष्टि से आचार्य के लिए ऐसा होना आवश्यक भी है।

प्रयोग-सम्पदा

किसी विषय पर प्रतिवादी के साथ वाद या विचार करना यहाँ प्रयोग शब्द से अभिहित किया

१. दशाश्रुतस्कन्धसूत्र, अध्ययन ४, सूत्र ७

गया है। वाद सम्बन्धी विशेष पटुता या कुशलता का नाम प्रयोग-सम्पदा है। उसके निम्नलिखित चार^१ भेद हैं—

- (१) अपने आपको जानकर वाद का प्रयोग करना।
- (२) परिषद् को जानकर वाद का प्रयोग करना।
- (३) क्षेत्र को जानकर वाद का प्रयोग करना।
- (४) वस्तु को जानकर वाद का प्रयोग करना।

(१) आत्म-ज्ञानपूर्वक वाद का प्रयोग—वादार्थ उद्यत व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि पहले वह अपनी शक्ति, क्षमता, प्रमाण, नय आदि के सम्बन्ध में अपनी योग्यता को आँके। यह भी देखे कि प्रतिवादी की तुलना में उसकी कैसी स्थिति है। वह तत्पश्चात् वाद में प्रवृत्त हो। ऐसा न होने पर प्रतिकूल परिणाम आने की आशंका हो सकती है। अतः आचार्य में इस प्रकार की विशेषता का होना आवश्यक है। यों सोच-विचार कर, अपनी क्षमता को आँक कर बुद्धिमत्तापूर्वक वाद में प्रवृत्त होना पहले प्रकार की प्रयोग-सम्पदा है।

(२) परिषद्-ज्ञान पूर्वक वाद-प्रयोग—जिस परिषद् के बीच वाद होने को है, कुशल वादी को चाहिए कि वह उस परिषद् के सम्बन्ध में पहले से ही जानकारी प्राप्त करे कि वह (परिषद्) गम्भीर तत्वों को समझती है या नहीं। यह भी जाने कि परिषद् की रुचि वादी के अपने धार्मिक सिद्धान्तों में है या प्रतिवादी के सिद्धान्तों में। केवल तर्क और युक्ति-बल द्वारा ही प्रतिवादी पर सम्पूर्ण सफलता नहीं पाई जा सकती। जिन लोगों के बीच वाद प्रवृत्त होता है, उनका मानसिक झुकाव भी उसमें काम करता है। अतएव सफलता या प्रतिवादी पर विजय चाहने वाले वादी के लिए यह आवश्यक है कि परिषद् की अनुकूलता और प्रतिकूलता को दृष्टि में रखे। इस ओर सोचे-विचारे बिना वाद में प्रवृत्त न हो। आचार्य में इस प्रकार की विशेष समझ के साथ वाद में प्रवृत्त होने की सहज विशेषता होती है।

क्षेत्र-ज्ञान पूर्वक वाद-प्रयोग—जिस क्षेत्र में वाद होने को है, वह कैसा है, वहाँ के लोग दुर्लभ बोधि हैं या सुलभ बोधि, वहाँ का शासक विज्ञ है या अज्ञ, अनुकूल है या प्रतिकूल इत्यादि बातों को भी ध्यान में रखना वादी के लिए आवश्यक है। यदि लोग सुलभ बोधि, शासक विज्ञ तथा अनुकूल हो तो विद्वान् वादी को सफलता और गौरव मिलता है। क्षेत्र की स्थिति इसके प्रतिकूल हो तो वादी अत्यन्त योग्य होते हुए भी सफल बन सके, यह कठिन है। आचार्य में क्षेत्र को परखने की अपनी विशेषता होती है।

वस्तु-ज्ञान पूर्वक वाद का प्रयोग—वस्तु का अर्थ वाद का विषय है। जिस विषय पर वाद या वैचारिक ऊहापोह किया जाना है, वह वादी को ध्यान में रहना आवश्यक है। उस विषय के विभिन्न पक्ष, उस सम्बन्ध में विविध धारणाएँ, उनका समाधान इत्यादि दृष्टि में रखते हुए वाद में प्रवृत्त होना हितावह होता है। आचार्य में यह विशेषता भी होनी चाहिए।

संक्षेप में, सार यह है कि आचार्य का संघ में सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान होता है। उनकी विजय

१ दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, अध्यायन ४, सूत्र ११

आचार्यप्रवचन अभिनन्दन आचार्यप्रवचन अभिनन्दन
श्रीआनन्दजी अन्धेन्द्र श्रीआनन्दजी अन्धेन्द्र



सारे संघ की शोभा है, उनकी पराजय सारे संघ का अपमान । अतः यह वांछनीय है कि आचार्य में वाद-प्रयोग सम्बन्धी विशेषताएँ, जिनका उल्लेख हुआ है, हों । जिससे उनका अपना गौरव बढ़े, संघ की महिमा फैले ।

संग्रहपरिज्ञा-सम्पदा

जैन श्रमण के जीवन में परिग्रह के लिए कोई स्थान नहीं है । वह सर्वथा निष्परिग्रही जीवन-यापन करता है । यह होने पर भी जब तक साधक सदेह है, उसे जीवन-यात्रा के निर्वाह के लिए कतिपय वस्तुओं की अपेक्षा रहती ही है । शास्त्रीय विधान के अनुरूप उन वस्तुओं का ग्रहण करता हुआ साधक परिग्रही नहीं बनता क्योंकि उन वस्तुओं में उसकी जरा भी मूर्च्छा या आसक्ति नहीं होती । परिग्रह का आधार मूर्च्छा या आसक्ति है । यदि अपने देह के प्रति भी साधक के मन में मूर्च्छा या आसक्ति हो जाए तो वह परिग्रह हो जाता है । आत्म-साधना में लगे साधक का जीवन अनासक्त और अमूर्च्छित होता है, होना चाहिए । यही कारण है कि उस द्वारा अनिवार्य आवश्यकताओं के निर्वाह के लिए अमूर्च्छित एवं अनासक्त भाव से अपेक्षित पदार्थों का ग्रहण अदूषणीय है ।

संग्रह का अर्थ श्रमण के वैयक्तिक तथा सामष्टिक संघीय जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का अवलोकन, आकलन या स्वीकार है । वस्तुओं की आवश्यकता, समीचीनता एवं सुलभता का ज्ञान संग्रह-परिज्ञा कहा जाता है । आचार्य पर संघ के संचालन, संरक्षण एवं व्यवस्था का उत्तरदायित्व होता है अतः उन्हें इस ओर जागरूक रहना अपेक्षित है कि कब किस वस्तु की आवश्यकता पड़ जाए और पूर्ति किस प्रकार सम्भव हो । इसमें जागरूकता के साथ-साथ सूझ-बूझ तथा व्यावहारिक कुशलता की भी आवश्यकता रहती है । यह आचार्य की अपनी असाधारण विशेषता है ।

संग्रहपरिज्ञा-सम्पदा के चार^१ प्रकार बताये गये हैं—

- | | |
|-------------------------------|--------------------------------|
| (१) क्षेत्र-प्रतिलेखन-परिज्ञा | (२) प्रातिहारिक-अवग्रह-परिज्ञा |
| (३) काल-सम्मान-परिज्ञा | (४) गृह-संपूजना-परिज्ञा |

(१) क्षेत्र प्रतिलेखन-परिज्ञा—साधुओं के प्रवास और विहार के स्थान क्षेत्र कहे जाते हैं । जैन श्रमण वर्षा ऋतु के चार महीने एक ही स्थान पर टिकते हैं, कहीं बिहार-यात्रा नहीं करते । इसे चातुर्मासिक प्रवास कहा जाता है । इसके अतिरिक्त वे जन-जन को धर्मोपदेश या अध्यात्म-प्रेरणा देने के निमित्त घूमते रहते हैं । रोग, वार्धक्य, दैहिक अशक्तता आदि अपवादों के अतिरिक्त वे कहीं भी एक मास से अधिक नहीं टिकते ।

चातुर्मासिक प्रवास के लिए कौनसा क्षेत्र कैसा है, साधु-जीवन के लिए अपेक्षित निरवद्य पदार्थ कहाँ किस रूप में प्राप्य हैं, अस्वस्थ साधुओं की चिकित्सा, पथ्य आहार आदि की सुलभता, जलवायु व निवास-स्थान की अनुकूलता आदि बातों का ध्यान आचार्य को रहता है । चातुर्मासिक प्रवास में इस बात

१ दशश्रुतस्कन्ध सूत्र अध्यायन ४ सूत्र १२

का और अधिक महत्व है। वर्ष भर में वर्षावास के अन्तर्गत ही श्रमणों का एक स्थान पर सबसे लम्बा प्रवास होता है। अध्ययन चिकित्सा आदि की दृष्टि से वहाँ यथेष्ट समय मिलता है। इसलिए इन बातों का विचार बहुत आवश्यक है।

धर्म-प्रसार की दृष्टि से भी क्षेत्र की गवेषणा का महत्व है। यदि किसी क्षेत्र के लोगों को अध्यात्म में रस है तो वहाँ बहुत लोग धर्म-भावना से अनुप्राणित होंगे, धर्म की प्रभावना होगी।

आचार्य इन सब दृष्टिकोणों को आत्मसात् किये रहते हैं।

(२) प्रातिहारिक अवग्रह-परिज्ञा—श्रमण अपनी आवश्यकता के अनुसार दो प्रकार की वस्तुएँ लेते हैं। प्रथम कोटि में वे वस्तुएँ आती हैं, जो सम्पूर्णतया उपयोग में ली जाती हैं, वापिस नहीं लौटाई जातीं, जैसे—अन्न, जल, औषधि आदि। दूसरी वे वस्तुएँ हैं, जो उपयोग में लेने के बाद वापिस लौटाई जाती हैं, उन्हें प्रातिहारिक कहा जाता है। प्रातिहारिक का शाब्दिक अर्थ भी इसी प्रकार का है। पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक आदि इस कोटि में आते हैं।

आचार्य के दर्शन तथा उनसे अध्ययन आदि के निमित्त अनेक दूसरे साधु भी आते रहते हैं। उनके स्वागत-सत्कार, सुविधा आदि की दृष्टि से जब जैसे अपेक्षित हों, पीठ, फलक, आसन आदि के लिए आचार्य को ध्यान रखना आवश्यक होता है। कौन वस्तु कहाँ प्राप्य है, यह ध्यान रहने पर आवश्यकता पड़ते ही शास्त्रीय विधि के अनुसार वह तत्काल प्राप्त की जा सकती है। उसके लिए अनावश्यक रूप में भटकना नहीं पड़ता है।

(३) काल-सम्मान-परिज्ञा—काल के सम्मान का आशय साधुजीवनोचित क्रियाओं का समुचित समय पर अनुष्ठान करना है। ऐसा करना व्यावहारिक दृष्टि से जहाँ व्यवस्थित जीवन का परिचायक है, वहाँ आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन में इससे अन्तःस्थिरता परिव्याप्त होती है। क्रियाओं के यथाकाल अनुष्ठान के लिए काल का 'सम्मान' करना—ऐसा जो प्रयोग शास्त्र में आया है, उससे स्पष्ट है कि यथासमय धार्मिक क्रियाओं के सम्पादन का कितना अधिक महत्व रहा है। आचार्य सारे संघ के नियामक और अधिनायक होते हैं। उनके जीवन का क्षण-क्षण अन्तेवासियों एवं अनुयायियों के समक्ष आदर्श के रूप में विद्यमान रहता है। उसका उन पर अमिट प्रभाव होता है। इसलिए यथासमय सब क्रियाएँ सुव्यवस्थित रूप में संपादित करना, उस ओर अनवरत यत्नशील रहना आचार्य के लिए आवश्यक है।

(४) गुरु-संपूजना-परिज्ञा—जो दीक्षा-पर्याय में अपने से ज्येष्ठ हों, उन श्रमणों का वन्दन, नमन आदि द्वारा बहुमान करने में आचार्य सदा जागरूक रहते हैं। इसे वे आवश्यक और महत्वपूर्ण समझते हैं। ऐसा करना गुरु-संपूजना-परिज्ञा है।

आचार्य की यह प्रवृत्ति अन्तेवासियों को बड़ों का सम्मान करने, उनके प्रति आदर एवं श्रद्धा दिखाने की ओर प्रेरित करती है। संघ के वातावरण में इससे सौहार्द का संचार होता है। फलतः संघ विकसित और उन्नत बनता है।

१. प्रतिहरणं प्रतिहार—प्रत्यर्पणम्, तमर्हतीति प्रातिहारिकम्। पुनः समर्पणीय संस्तारकादौ।

—ज्ञाताधर्मकथा सटीक, श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन ५

आचार्यप्रवृत्तः अभिनेतुः आचार्यप्रवृत्तः अभिनेतुः
श्रीआनन्दः अन्तेवासिः श्रीआनन्दः अन्तेवासिः



उपाध्याय

जैनदर्शन ज्ञान और क्रिया के समन्वित अनुसरण पर आधृत है। संयम-मूलक आचार का परिपालन जैन साधक के जीवन का जहाँ अनिवार्य अंग है, वहाँ उसके लिए यह भी अपेक्षित है कि वह ज्ञान की आराधना में भी अपने को तन्मयता के साथ जोड़े। सदज्ञान पूर्वक आचरित क्रिया में शुद्धि की अनुपम सुषमा प्रस्फुटित होती है। जिस प्रकार ज्ञान-प्रसूत क्रिया की गरिमा है, उसी प्रकार क्रियान्वित या क्रिया-परिणत ज्ञान की ही वास्तविक सार्थकता है। ज्ञान और क्रिया जहाँ पूर्व और पश्चिम की तरह भिन्न दिशाओं में जाते हैं, वहाँ जीवन का ध्येय सधता नहीं। अनुष्ठान द्वारा इन दोनों पक्षों में सामंजस्य उत्पन्न कर जिस गति से साधक साधना-पथ पर अग्रसर होगा, साध्य को आत्मसात् करने में वह उतना ही अधिक सफल बनेगा।

जैन-संघ के पदों में आचार्य के बाद दूसरा पद उपाध्याय का है। इस पद का सम्बन्ध मुख्यतः अध्ययन से है, उपाध्याय श्रमणों को सूत्र-वाचना देते हैं। कहा गया है—

बारसंगो जिणक्खाओ, सज्जओ कहिआं बुह ।
त उवइस्संति जम्हा, उवज्झया तेण वुच्चंति ॥^१

जिन प्रतिपादित द्वादशांगरूप स्वाध्याय—सूत्र-वाङ्मय ज्ञानियों द्वारा कथित-वर्णित या ग्रथित किया गया है। जो उसका उपदेश करते हैं, वे (उपदेशक श्रमण) उपाध्याय कहे जाते हैं।

यहाँ सूत्र-वाङ्मय का उपदेश करने का आशय आगमों की सूत्र-वाचना देना है। स्थानांग वृत्ति में भी उपाध्याय का सूत्रदाता^२ (सूत्रवाचनादाता) के रूप में उल्लेख हुआ है।

आचार्य की सम्पदाओं के वर्णन-प्रसंग में यह बतलाया गया है कि आगमों की अर्थ-वाचना आचार्य देते हैं। यहाँ जो उपाध्याय द्वारा स्वाध्यायोपदेश या सूत्रवाचना देने का उल्लेख है, उसका तात्पर्य यह है कि सूत्रों के पाठोच्चारण की शुद्धता, स्पष्टता, विशदता, अपरिवर्त्यता तथा स्थिरता बनाये रखने के हेतु उपाध्याय पारम्परिक तथा आज की भाषा में भाषा वैज्ञानिक आदि दृष्टियों से अन्तेवासी श्रमणों को मूल पाठ का सांगोपांग शिक्षण देते हैं।

अनुयोगद्वार सूत्र में 'आगमतः द्रव्यावश्यक, के सन्दर्भ में पठन या वाचन का विवेचन करते हुए तत्सम्बन्धी विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है, जिससे प्रतीत होता है कि पाठ की एक अक्षुण्ण तथा स्थिर परम्परा जैन श्रमणों में रही है। आगम-पाठ को यथावत् बनाये रखने में इससे बड़ी सहायता मिली है।

आगम-गाथाओं का उच्चारण कर देना मात्र पाठ या वाचन नहीं है। अनुयोगद्वार में पद के शिक्षित, जित, स्थित, मित, परिजित, नामसम, घोषसम, अहीनाक्षर, अत्यक्षर, अव्याविद्धसर, अस्खलित,

१. भगवती सूत्र १. १. १ मंगलाचरण वृत्ति ।

२. उपाध्याय : सूत्रदाता । स्थानांग सूत्र ३. ४. ३२३ वृत्ति ।

१३८ इतिहास और संस्कृति

१५. प्रतिपूर्णघोष

उच्चारणीय पाठ का मन्द स्वर, जो कठिनाई से सुनाई दे, द्वारा उच्चारण न करना, पूरे स्वर का स्पष्टता से उच्चारण करना ।

१६. कण्ठोष्ठविप्रमुक्त

: उच्चारणीय पाठ या पाठांश को गले और होठों में अटका कर अस्पष्ट नहीं बोलना ।

सूत्र पाठ को अक्षुण्ण तथा अपरिवर्त्य बनाये रखने के लिए उपाध्याय को सूत्र-वाचना देने में कितना जागरूक तथा प्रयत्नशील रहना होता था, यह उक्त विवेचन से स्पष्ट है ।

लेखनक्रम के अस्तित्व में आने से पूर्व वैदिक, जैन और बौद्ध सभी परम्पराओं में अपने आगमों, आर्ष शास्त्रों के कण्ठस्थ रखने की प्रणाली थी । मूल पाठ का रूप अक्षुण्ण बना रहे, परिवर्तन समय का उस पर प्रभाव न आए, इस निमित्त उन द्वारा ऐसे पाठ-क्रम या उच्चारण-पद्धति का परिस्थापन स्वाभाविक था, जिससे एक से सुनकर या पढ़कर दूसरा व्यक्ति सर्वथा उसी रूप में शास्त्र को आत्मसात् बनाये रख सके । उदाहरणार्थ संहिता पाठ, पद-पाठ, क्रम-पाठ जटा-पाठ, और घन-पाठ के रूप में वेदों के पठन का भी बड़ा वैज्ञानिक प्रकार था, जिसने अब तक उनको मूल रूप में बनाये रखा है ।

एक से दूसरे द्वारा श्रुति-परम्परा से आगम-प्राप्तिक्रम के बावजूद जैनों के आगमिक वाङ्मय में कोई विशेष या अधिक परिवर्तन आया हो, ऐसा सम्भव नहीं लगता । सामान्यतः लोग कह देते हैं कि किसी से एक वाक्य भी सुनकर दूसरा व्यक्ति किसी तीसरे व्यक्ति को बताए तो यत्किञ्चित् परिवर्तन आ सकता है, फिर यह कब सम्भव है कि इतने विशाल आगम-वाङ्मय में काल की इस लम्बी अवधि के बीच भी कोई परिवर्तन नहीं आ सका । साधारणतया ऐसी शंका उठना अस्वाभाविक नहीं है किन्तु आगम-पाठ की उपर्युक्त परम्परा से स्वतः समाधान हो जाता है कि जहाँ मूल पाठ की सुरक्षा के लिए इतने उपाय प्रचलित थे, वहाँ आगमों का मूल स्वरूप क्यों नहीं अव्याहृत और अपरिवर्तित रहता ।

अर्थ या अभिप्राय का आश्रय सूत्र का मूल पाठ है । उसी की पृष्ठभूमि पर उसका पल्लवन और विकास सम्भव है । अतएव उसके शुद्ध स्वरूप को स्थिर रखने के लिए सूत्र-वाचना या पठन का इतना बड़ा महत्व समझा गया कि संघ में उसके लिए 'उपाध्याय' का पृथक् पद प्रतिष्ठित किया गया ।

प्रवर्तक

आचार्य के बहुविध उत्तरदायित्वों के सम्यक् निर्वहण में सुविधा रहे, धर्म-संघ उत्तरोत्तर उन्नति करता जाए, श्रमणवृन्द श्रामण्य के परिपालन और विकास में गतिशील रहे, इस हेतु अन्य पदों के साथ प्रवर्तक का भी विशेष पद प्रतिष्ठित किया गया । प्रवर्तक पद का विश्लेषण करते हुए लिखा है—

तप संयमयोगेषु, योग्यं योहि प्रवर्तयेत् ।

निवर्तयेदयोग्यं च, गणचिन्ती प्रवर्तकः ॥^१

१. धर्मसंग्रह, अधिकार ३, गाथा १४३

प्रवर्तक गण या श्रमण-संघ की चिन्ता करते हैं अर्थात् वे उसकी गतिविधि का ध्यान रखते हैं। वे जिन श्रमणों को तप, संयम तथा प्रशस्त योगमूलक अन्यान्य सत्प्रवृत्तियों में योग्य पाते हैं, उन्हें उनमें प्रवृत्त या उत्प्रेरित करते हैं। मूलतः तो सभी श्रमण श्रामण्य का निर्वाह करते ही हैं पर रचि की भिन्नता के कारण किन्हीं का तप की ओर अधिक झकाव होता है, कई शास्त्रानुशीलन में अधिक रस लेते हैं, कई संयम के दूसरे पहलुओं की ओर अधिक आकृष्ट रहते हैं। रचि के कारण किसी विशेष प्रवृत्ति की ओर श्रमण का उत्साह हो सकता है पर हर किसी को अपनी यथार्थ स्थिति का मली भाँति ज्ञान हो, यह आवश्यक नहीं। अति उत्साह के कारण कभी-कभी अपनी क्षमता को आंक पाना भी कठिन होता है। ऐसी परिस्थिति में प्रवर्तक का यह कर्तव्य है कि जिनको जिस प्रवृत्ति के लिए योग्य मानते हों, उन्हें उस ओर प्रेरित और प्रवृत्त करें। जो उन्हें जिस प्रवृत्ति के सम्यक् निर्वाह में योग्य न जान पड़ें, उन्हें वे उस ओर से निवृत्त करें। साधक के लिए इस प्रकार के पथ-निर्देशक का होना परम आवश्यक है। इससे उसकी शक्ति और पुरुषार्थ का समीचीन उपयोग होता है। ऐसा न होने से कई प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। उदाहरणार्थ—कोई श्रमण अति उत्साह के कारण अपने को उग्र तपस्या में लगाये पर कल्पना कीजिये, उसकी दैहिक क्षमता इस प्रकार की न हो, स्वास्थ्य अनुकूल न हो, मानसिक स्थिरता कम हो तो वह अपने प्रयत्न में जैसा सोचता है, चाहता है, सफल नहीं हो पाता। उसका उत्साह टूट जाता है, वह अपने को शायद हीन भी मानने लगता है। अतएव प्रवर्तक, जिनमें ज्ञान, अनुभव तथा अनूठी सूझबूझ होती है, का दायित्व होता है कि वे श्रमणों को उनकी योग्यता के अनुरूप उत्कर्ष के विभिन्न मार्गों पर गतिशील होने में प्रवृत्त करें, जो उचित न प्रतीत हों, उनसे निवृत्त करें।

उक्त तथ्य को स्पष्ट करते हुए और भी कहा गया है—

तवसंजमनियमेसु, जो जुग्गो तत्थ तं पवेत्तई ।

असह य नियतंती, गणतत्तिल्लो पवत्तीओ ॥

तपः संयमयोगेषु मध्ये यो यत्र योग्यस्तं तत्र प्रवर्तयन्ति, असहांश्च । असमर्थाश्च निवर्त्तयन्ति । एवं गणतृप्तिप्रवृत्ताः प्रवर्तिनः ।^१

संयम, तप आदि के आचरण में जो धैर्य और सहिष्णुता चाहिए, जिनमें वह होती है, वे ही उसका सम्यक् अनुष्ठान कर सकते हैं। जिनमें वैसी सहनशीलता और हृदयता नहीं होती, उनका उस पर टिके रहना सम्भव नहीं होता। प्रवर्तक का यह काम है कि किस श्रमण को किस ओर प्रवृत्त करे, कहाँ से निवृत्त करे। गण को तृप्त-तुष्ट-उल्लसित करने में प्रवर्तक सदा प्रयत्नशील रहते हैं।

स्थविर

जैन संघ में स्थविर का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण है। स्थानांग सूत्र^१ में दश प्रकार के स्थविर बतलाये गये हैं, जिनमें से अन्तिम तीन जाति-स्थविर, श्रुत-स्थविर तथा पर्याय-स्थविर का सम्बन्ध विशेषतः श्रमण

१. व्यवहार भाष्य, उद्देशक १, गाथा ३४०

२. स्थानांगसूत्र, स्थान १०, सूत्र ७६२

आचार्यप्रवचन अभिनन्दन आचार्यप्रवचन अभिनन्दन
श्रीआनन्दरत्न अन्ध ११ श्रीआनन्दरत्न अन्ध ११



१४० इतिहास और संस्कृति

जीवन से है। स्थविर का सामान्य अर्थ प्रौढ़ या वृद्ध है। जो जन्म से अर्थात् आयु से स्थविर होते हैं, वे जाति-स्थविर कहे जाते हैं। स्थानांग^१ वृत्ति में उनके लिए साठ वर्ष की आयु का संकेत किया गया है।

जो श्रुत-समवाय आदि अंग, आगम व शास्त्र के पारगामी होते हैं, वे श्रुत-स्थविर^२ कहे जाते हैं। उनके लिए आयु की इयत्ता का निबन्ध नहीं है। वे छोटी आयु के भी हो सकते हैं।

पर्याय-स्थविर वे होते हैं, जिनका दीक्षाकाल लम्बा होता है। इनके लिए बीस वर्ष के दीक्षा-पर्याय के होने का वृत्तिकार ने उल्लेख किया है।^३

जिनकी आयु परिपक्व होती है, उन्हें जीवन के अनेक प्रकार के अनुभव होते हैं। वे जीवन में बहुत प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल, प्रिय-अप्रिय घटनाक्रम देखे हुए होते हैं अतः वे विपरीत परिस्थिति में भी विचलित नहीं होते वे स्थिर बने रहते हैं। स्थविर शब्द स्थिरता का भी द्योतक है।

जिनका शास्त्राध्ययन विशाल होता है, वे भी अपने विपुल ज्ञान द्वारा जीवन-सत्त्व के परिज्ञाता होते हैं। शास्त्र-ज्ञान द्वारा उनके जीवन में आध्यात्मिक स्थिरता और दृढ़ता होती है।

जिनका दीक्षा-पर्याय, संयम-जीवितव्य लम्बा होता है, उनके जीवन में धार्मिक परिपक्वता, चारित्रिक बल एवं आत्म-ओज सहज ही प्रस्फुटित हो जाता है।

इस प्रकार के जीवन के धनी श्रमणों की अपनी गरिमा है। वे दृढ़धर्मा होते हैं और संघ के श्रमणों को धर्म में, साधना में, संयम में स्थिर बनाये रखने के लिए सदैव जागरूक तथा प्रयत्नशील रहते हैं।

प्रवचनसारोद्धार (द्वार २) में कहा गया है—

“प्रवर्तितव्यापारान् संयमयोगेषु सीदतः साधून् ज्ञानादिषु ।

ऐहिकामुष्मिकापायदर्शनतः स्थिरीकरोतीति स्थविरः ।

जो साधु लौकिक एषणावश सांसारिक कार्य-कलापों में प्रवृत्त होने लगते हैं, जो संयम-पालन में, ज्ञानानुशीलन में कष्ट का अनुभव करते हैं, ऐहिक और पारलौकिक हानि या दुःख दिखला कर उन्हें जो श्रमण-जीवन में स्थिर करते हैं, वे स्थविर कहे जाते हैं। वे स्वयं उज्ज्वल चारित्र्य के धनी होते हैं, अतः उनके प्रेरणा-वचन, प्रयत्न प्रायः निष्फल नहीं होते।

स्थविर की विशेषताओं का वर्णन करते हुए कहा गया है कि स्थविर संविग्न-मोक्ष के अभिलाषी, मार्दवित, अत्यन्त मृदु या कोमल प्रकृति के धनी और धर्मप्रिय होते हैं। ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य की आराधना में उपादेय अनुष्ठानों को जो श्रमण परिहीन करता है, उनके पालन में अस्थिर बनता है, वे

१. जातिस्थविराः—षष्टिवर्षप्रमाणजन्मपर्यायाः ।

—स्थानांग सूत्र, स्थान १० सूत्र, ७६२ वृत्ति

२. श्रुतस्थविराः—समवायाङ्गधारिणः ।

—स्थानांगसूत्र, स्थान १०, सूत्र ७६२ वृत्ति

३. पर्यायस्थविराः—विंशतिवर्षप्रमाणप्रव्रज्या पर्यायवन्तः ।

—स्थानांगसूत्र, स्थान १०, सूत्र ७६२ वृत्ति

(स्थविर) उसे ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र्य की याद दिलाते हैं। पतनोन्मुख श्रमणों को वे ऐहिक और पार-लौकिक अघःपतन दिखला कर मोक्ष के मार्ग में स्थिर करते हैं।^१

इसी आशय को और स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

तेन व्यापारितेऽवर्थे—पनगारांश्च सीदतः।

स्थिरीकरोति सच्छक्तिः, स्थविरो भवतीह सः ॥^२

तप, संयम, श्रुताराधना तथा आत्म-साधना आदि श्रमण-जीवन के उन्नायक कार्य, जो संघ-प्रवर्तक द्वारा श्रमणों के लिए नियोजित किये जाते हैं, में जो श्रमण अस्थिर हो जाते हैं, इनका अनुसरण करने में जो कष्ट मानते हैं या इनका पालन करना जिनको अप्रिय लगता है, भाता नहीं, उन्हें जो आत्मशक्तिसम्पन्न दृढचेता श्रमण उक्त अनुष्ठेय कार्यों में दृढ बनाता है, वह स्थविर कहा जाता है।

इससे स्पष्ट है कि संयम-जीवन, जो श्रामण्य का अपरिहार्य अंग है, के प्रहरी का महनीय कार्य स्थविर करते हैं। संघ में उनकी बहुत प्रतिष्ठा तथा साख होती है। अवसर आने पर वे आचार्य तक को आवश्यक बातें सुझा सकते हैं, जिन पर उन्हें (आचार्य को) भी गौर करना होता है।

संक्षेप में, सार यह है कि स्थविर संयम में स्वयं अविचल-स्थितिशील होते और संघ के सदस्यों को वैसे बने रहने के लिए उत्प्रेरित करते रहते हैं।

गणी

गणी का सामान्य अर्थ गण या साधु-समुदाय का अधिपति है। अतः आचार्य के लिए भी इस शब्द का प्रयोग देखने में आता है। परन्तु यहाँ यह एक विशिष्ट अर्थ को लिए हुए है। संघ में जो अप्रतिम विद्वान, बहुश्रुत श्रमण होता था, उसे गणी का पद दिया जाता था। गणी के सम्बन्ध में लिखा है—

अस्य पार्श्वे आचार्याः सूत्रद्वयमभ्यस्यन्ति ।^३

अर्थात् आचार्य उनके पास सूत्र आदि का अभ्यास करते हैं।

यद्यपि आचार्य का स्थान संघ में सर्वोच्च होता है। उनमें आचार पालने, पलवाने, संघ के श्रमणों को अनुशासन में रखने, उनको तत्व-ज्ञान देने, उनका परिरक्षण तथा विकास करते रहने की असाधारण

१. संविगो मद्द्विओ, पियधम्मो नाणदंसणचरित्तं ।

जे अट्टे परि हायइ, सातो ते हवई थेरो ॥

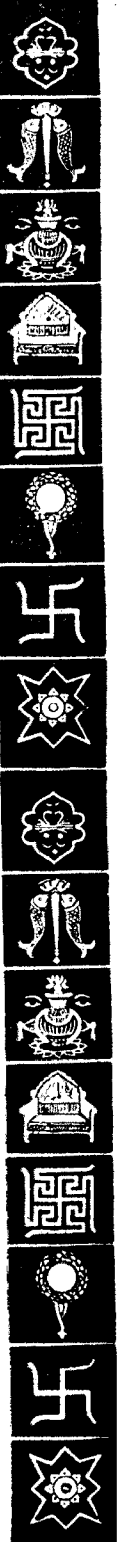
यः संविगो मोक्षाभिलाषी, मार्दवितः संजातमार्दविकः । (१) प्रियधर्मा एकान्तवल्लमः संयमानुष्ठाने, यो ज्ञानदर्शनचारित्र्येषु मध्ये यानर्थानुपादेयानुष्ठानविशेषान् परिहापयति हानिं नयति तान् तं स्मारयन् भवति स्थविरः, सीदमानान्साधून् ऐहिकाऽऽमुष्मिकापायप्रदर्शनतां मोक्षमार्गं स्थिरीकरोतीति स्थविर इति व्युत्पत्तेः ।

—अभिधान राजेन्द्र भाग, ४, पृष्ठ २३८६-८७

२. धर्मसंग्रह, अधिकार ३, गाथा ७३

३. कल्प सुबोधिका कल्प ६

आचार्यप्रवृत्तम् अभिनन्दते आचार्यप्रवृत्तम् अभिनन्दते
श्रीआनन्दरत्नम् अन्धेन्दुं श्रीआनन्दरत्नम् अन्धेन्दुं



क्षमता होती है। उनके व्यक्तित्व में सर्वातिशायि ओज तथा प्रभाव होता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि संघगत श्रमणों में वे सबसे अधिक विद्वान् एवं अध्येता हों। गणी में इस कोटि की ज्ञानात्मक विशेषता होती है। फलस्वरूप वे आचार्य को भी वाचना दे सकते हैं।

इससे यह भी स्पष्ट है कि आचार्य-पद केवल विद्वत्ता के आधार पर नहीं दिया जाता। विद्या जीवन का एक पक्ष है। उसके अतिरिक्त और भी अनेक पक्ष हैं। जिनके बिना जीवन में समग्रता नहीं आती। आचार्य के व्यक्तित्व में वैसी समग्रता होनी चाहिए, जिससे जीवन के सब अंग परिपूरित लगे। यह सब होने पर भी आचार्य को यदि शास्त्राध्ययन की ओर अपेक्षा हो तो वे गणी से शास्त्राभ्यास करें। आचार्य जैसे उच्च पद पर अधिष्ठित व्यक्ति एक अन्य साधु से अध्ययन करें, इसमें क्या उनकी गरिमा नहीं मिटती—आचार्य ऐसा विचार नहीं करते। वे गुणग्राही तथा उच्च संस्कारी होते हैं, अतः जो जो उन्हें आवश्यक लगता है, वे उन विषयों को गणी से पढ़ते हैं। यह कितनी स्वस्थ तथा सुखावह परम्परा है कि आचार्य भी विशिष्ट ज्ञानी से ज्ञानार्जन करते नहीं हिचकते। ज्ञान और ज्ञानी के सत्कार का यह अनुकरणीय प्रसंग है।

गणधर

गणधर का शाब्दिक अर्थ गण या श्रमण-संघ को धारण करने वाला, गण का अधिपति या स्वामी होता है। आवश्यक वृत्ति में अनुत्तर ज्ञान, दर्शन आदि गुणों के गण—समूह को धारण करने वाले गणधर कहे गये हैं।

आगम-वाङ्मय में गणधर शब्द मुख्यतः दो अर्थों में प्रयुक्त है।

तीर्थकर के प्रमुख शिष्य, जो उन (तीर्थकर) द्वारा प्ररूपित तत्व-ज्ञान का द्वादशांगी के रूप में संग्रहण करते हैं, उनके धर्म-संघ के विभिन्न गणों की देख-रेख करते हैं, अपने-अपने गण के श्रमणों को आगम-वाचना देते हैं, गणधर कहे जाते हैं। अनुयोगद्वारा सूत्र में भाव-प्रमाण के अन्तर्गत ज्ञान गुण के आगम^१ नामक प्रमाण-भेद में बताया गया है कि गणधरों के सूत्र आत्मगम्य होते हैं।

तीर्थकरों के वर्णन-क्रम में उनकी अन्यान्य धर्म-सम्पदाओं के साथ-साथ उनके गणधरों का भी यथा-प्रसंग उल्लेख हुआ है। तीर्थकरों के सान्निध्य में गणधरों की जैसी परम्परा वर्णित है, वह सार्वदिक नहीं है। तीर्थकरों के पश्चात् अथवा दो तीर्थकरों के अन्तर्वर्ती काल में गणधर नहीं होते। अतः उदाहरणार्थ गौतम, सुधर्मा आदि के लिए जो गणधर शब्द प्रयुक्त हुआ है, वह गणधर के शाब्दिक या सामान्य अर्थ में अप्रयोज्य है।

गणधर का दूसरा अर्थ, जैसा कि स्थानांग^२ वृत्ति में लिखा गया है, आर्याओं या साधिवियों को

१. अनुत्तरज्ञानदर्शनादिगुणानां गणं धारयन्तीति गणधराः ।

—आवश्यकनिर्घृत्ति गाथा १०६२ वृत्ति

२. प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम—इन चार प्रमाणों का वहाँ वर्णन हुआ है।

३. आर्यिकाप्रतिजागरको वा साधुविशेषः समयप्रसिद्धः ।

—स्थानांग सूत्र ४. ३. ३२३ वृत्ति

प्रतिजागृत रखने वाला अर्थात् उनके संयम-जीवन के सम्यक् निर्वहण में सदा प्रेरणा, मार्गदर्शन एवं आध्यात्मिक सहयोग करने वाला श्रमण गणधर कहा जाता है।

आर्या-प्रतिजागरक के अर्थ में प्रयुक्त गणधर शब्द से प्रकट होता है कि संघ में श्रमणी-वृन्द की समीचीन व्यवस्था, विकास, अध्यात्म-साधना में उत्तरोत्तर प्रगति इत्यादि पर पूरा ध्यान दिया जाता था। यही कारण है कि उनकी देखरेख और मार्गदर्शन के कार्य को इतना महत्वपूर्ण समझा गया कि एक विशिष्ट श्रमण के मनोनयन में इस पहलू को भी ध्यान में रखा जाता था।

गणावच्छेदक

इस पद का सम्बन्ध विशेषतः व्यवस्था से है। संघ के सदस्यों का संयम जीवितव्य स्वस्थ एवं कुशल बना रहे, साधु-जीवन के निर्वाह-हेतु अपेक्षित उपकरण साधु-समुदाय को निरवय रूप में मिलते रहें इत्यादि संघीय आवश्यकताओं की पूर्ति का उत्तरदायित्व या कर्तव्य गणावच्छेदक का होता है। उनके सम्बन्ध में लिखा है—

जो संघ को सहारा देने, उसे दृढ़ बनाये रखने अथवा संघ के श्रमणों की संयम-यात्रा के सम्यक् निर्वाह के लिए उपधि—श्रमण-जीवन के लिए आवश्यक सामग्री की गवेषणा करने के निमित्त विहार करते हैं—पर्यटन करते हैं, प्रयत्नशील रहते हैं, वे गणावच्छेदक होते हैं।^१

श्रामण्य-निर्वाह के लिए अपेक्षित साधन-सामग्री के आकलन, तत्सम्बन्धी व्यवस्था आदि की दृष्टि से गणावच्छेदक के पद का बहुत बड़ा महत्त्व है। गणावच्छेदक द्वारा आवश्यक उपकरण जुटाने का उत्तरदायित्व सम्हाल लिये जाने से आचार्य का संघ-व्यवस्था सम्बन्धी भार काफी हल्का हो जाता है। फलतः उन्हें धर्म-प्रभावना तथा संघोन्नति सम्बन्धी अन्यान्य कार्यों की सम्पन्नता में समय देने की अधिक अनुकूलता प्राप्त रहती है।

आधार : पृष्ठभूमि

पहले यह चर्चित हुआ है कि जैन परम्परा में पद-नियुक्ति का आधार निर्वाचन जैसी कोई वस्तु नहीं थी। वर्तमान आचार्य अपने उत्तराधिकारी आचार्य तथा अन्य पदाधिकारियों का मनोनयन करने के लिए सर्वाधिकार सम्पन्न थे। आज भी वैसा ही है। ज्ञातव्य है कि उत्तराधिकारी आचार्य का मनोनयन तो आवश्यक समझा गया पर दूसरे पदों में से जितनों की, जब आचार्य चाहते, पूर्ति करते। ऐसी अनिवार्यता नहीं थी कि उत्तराधिकारी आचार्य के साथ-साथ अन्य सभी पदों की पूर्ति की जाए। आचार्य चाहते तो अवशेष सभी पदों का कार्य-निर्वाह स्वयं करते अथवा उनमें से कुछ का करते, कुछ पर अधिकारी मनोनीत करते। मूलतः समग्र उत्तरदायित्व के आधार-स्तम्भ तो आचार्य ही हैं।

१. गणस्यावच्छेदो विभागोऽशोऽस्यास्तीति।

यो हि तं गृहीत्वा गच्छोपटम्भायवोपधिमार्गणादिनिमित्तं विहरति।

—स्थानांग सूत्र स्थान ४ उद्देशक ३ (वृत्ति)

आचार्यप्रवचन अभिनन्दन आचार्यप्रवचन अभिनन्दन
श्रीआनन्दश्रेष्ठ अन्धदुःखी श्रीआनन्दश्रेष्ठ अन्धदुःखी



व्यवस्था-सौंदर्य के लिए प्रायः अन्य पदों पर उपयुक्त, योग्य अधिकारियों का मनोनयन भी आचार्य उपयोगी मानते रहे हैं। पर क्रमशः पश्चाद्वर्ती समय में वैसा क्रम पूर्णतया नहीं रहा। कभी-कभी केवल आचार्य-पद पर अधिष्ठित एक ही व्यक्ति सारा कार्य-भार सम्हालते रहे। कभी आचार्य तथा उपाध्याय—दो पद कार्यकर रहे। कभी सातों पदों में से जब जो-जो अपेक्षित समझे गये, तत्कालीन आचार्यों द्वारा भरे गये।

कुछ विशिष्ट योग्यताएं

पदों पर मनोनीत किये जाने वाले श्रमणों में कुछ विशेष योग्यताएं बांछनीय समझी गई थीं। असाधारण स्थितियों में कुछ विशेष निर्णय लेने की व्यवस्थाएं भी रही हैं। व्यवहार-सूत्र तथा भाष्य में इस सन्दर्भ में बड़ा विशद विवेचन हुआ है, जिसके कतिपय पहलू यहाँ उपस्थित करना उपयोगी होगा।

कहाँ गया है कि जिन श्रमणों, निर्ग्रन्थों को दीक्षा स्वीकार किये आठ वर्ष हो गये हों, जो आचार, संयम, प्रवचन, प्रज्ञा, संग्रह तथा उपग्रह (श्रमणों के परिपोषण) में कुशल हों, जिनका चारित्र अखण्ड, अशबल—अनाचार के धब्बों से रहित-अदूषित, अभिन्न—एक जैसा सात्त्विक, असंक्लिष्ट—संक्लेशरहित हो अर्थात् जो चारित्र का सम्पूर्ण रूप में आत्मोल्लास पूर्वक पालन करते हों, जो बहुश्रुत विद्वान हों, जो कम से कम अनिवार्यतः स्थानांगसूत्र और समवायांग सूत्र के धारक-वेत्ता हों, उन्हें आचार्य उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी और गणावच्छेदक पद पर अधिष्ठित करना कल्पनीय—विहित है।

इसी को और स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि जिन श्रमणों में उक्त गुण या विशेषताएँ न हों, उन्हें ये पद देना अकल्पनीय है, ये पद उन्हें नहीं दिये जाने चाहिए।

पदों के सम्बन्ध में एक विकल्प यों है—

जिन श्रमण-निर्ग्रन्थों को दीक्षा स्वीकार किये पाँच वर्ष व्यतीत हो चुके हों, जो आचार, संयम, प्रवचन, प्रज्ञा, संग्रह तथा उपग्रह में कुशल हों, जिनका चारित्र्य अखण्ड, अशबल—अदूषित, अभिन्न—एक जैसा सात्त्विक, असंक्लिष्ट—संक्लेशरहित हो, जो बहुश्रुत और विद्वान हों, जो कम से कम दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहारसूत्र के वेत्ता हों, उनके लिए आचार्य और उपाध्याय का पद कल्पनीय है, उन्हें आचार्य या उपाध्याय के पद पर प्रतिष्ठित करना विहित है।^१

उपाध्याय पद पर मनोनीत किये जाने योग्य श्रमणों का वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि जिन श्रमणों, निर्ग्रन्थों को दीक्षा स्वीकार किये तीन वर्ष व्यतीत हो गये हों, जो आचार, संयम, प्रवचन, प्रज्ञा, संग्रह तथा उपग्रह में कुशल हों, जिनका चारित्र अखण्ड, अशबल—अदूषित, अभिन्न—एक जैसा सात्त्विक, असंक्लिष्ट—संक्लेशरहित हो, जो बहुश्रुत और विद्वान हों, जो कम से कम आचारंग और निशीथ के वेत्ता हों, उन्हें उपाध्याय के पद पर आसीन करना कल्पनीय है।^४

१. व्यवहार सूत्र उद्देशक ३, सूत्र, ७

२. श्रमणों के विहार के लिए समीचीन क्षेत्र, अपेक्षित उपकरण, उनकी आवश्यकताओं की यथोचित परिपूर्ति।

३. व्यवहार सूत्र उद्देशक ३, सूत्र ५

४. व्यवहार सूत्र उद्देशक ३, सूत्र ३

उपर्युक्त उद्धरणों में जो दीक्षा-काल दिया गया है, वह न्यूनतम है। उससे कम समय का दीक्षित श्रमण साधारणतः ऊपर वर्णित पदों का अधिकारी नहीं होता।

पद और दीक्षा-काल

आठ वर्ष, पांच वर्ष और तीन वर्ष के दीक्षा-काल के रूप में ऊपर तीन प्रकार के विकल्प उपस्थित किये गये हैं। अन्य योग्यताएँ सबकी एक जैसी बतलाई गई हैं।

आठ वर्ष के दीक्षित श्रमण को आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी तथा गणावच्छेदक का पद दिया जाना कल्पनीय—विहित कहा गया है। सात पदों में से छः पदों का उल्लेख यहाँ हुआ है। गणधर का पद उल्लिखित नहीं है। पर, भावतः उसे यहाँ अन्तर्गमित मान लिया जाना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिस श्रमण का दीक्षा-पर्याय आठ वर्ष का हो चुका है और जिसमें यदि दूसरी अपेक्षित योग्यताएँ हों तो वह सभी पदों का अधिकारी है।

पाँच वर्ष के दीक्षित श्रमण को, यदि अन्य योग्यताएँ उसमें हों तो आचार्य और उपाध्याय पद का अधिकारी बताया है।

तीन वर्ष के दीक्षित श्रमण को और योग्यताएँ होने पर उपाध्याय पद के लिए अनुमोदित किया है।

इन तीन विकल्पों में से दो में आचार्य का उल्लेख हुआ है और उपाध्याय का तीनों में ही। इसका आशय यह है कि आचार्य के लिए कम से कम पाँच वर्ष का दीक्षा-काल होना आवश्यक है। तब यदि उनका आठ वर्ष का दीक्षा-काल हो तो और भी अच्छा। आठ वर्ष के दीक्षा-काल की अनिवार्यता वस्तुतः प्रवर्तक, स्थविर, गणी तथा गणावच्छेदक के पद के लिए है। पहले विकल्प में क्रमशः सभी पदों का उल्लेख करना था अतः आचार्य का भी समावेश कर दिया गया।

उपाध्याय-पद के लिए कम से कम तीन वर्ष का दीक्षा-काल अनिवार्य है। फिर वह यदि पांच या आठ वर्ष का हो तो और उत्तम है। जैसा कि कहा गया है, आठ वर्ष के दीक्षा-काल की अनिवार्यता आचार्य तथा उपाध्याय के अतिरिक्त अन्य पदों के लिए तथा पाँच वर्ष के दीक्षा-काल की अनिवार्यता केवल आचार्य पद के लिए है। पहले विकल्प में सभी पदों का और दूसरे विकल्प में दो पदों का उल्लेख करना था अतः दोनों स्थानों पर उपाध्याय का समावेश किया गया।

श्रुत-योग्यता, आचार-प्रवणता, ओजस्वी व्यक्तित्व तथा जीवन के अनुभव—ये चार महत्वपूर्ण तथ्य हैं, जिनका संघीय पदों से अन्तरंग सम्बन्ध है।

उपाध्याय का पद श्रुत-प्रधान या सूत्र-प्रधान है। आत्म-साधना तो जीवन का अविच्छिन्न अंग है ही, उसके अतिरिक्त उपाध्याय का प्रमुख कार्य श्रमणों को सूत्र-वाचना देना है। यदि कोई श्रमण इस (श्रुतात्मक) विषय में निष्णात हों तो अपने उत्तरदायित्व का भली-भाँति निर्वाह करने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं आती। व्यावहारिक जीवन के अनुभव आदि की वहाँ विशेष अपेक्षा नहीं रहती। वहाँ

आचार्यप्रवर्तक अभिनेता आचार्यप्रवर्तक अभिनेता
श्रीआनन्दरत्न अन्धेरी श्रीआनन्दरत्न अन्धेरी



सूत्र सम्बन्धी व्यापक अध्ययन, प्रगल्भ पाण्डित्य तथा प्रकृष्ट प्रज्ञा होनी चाहिए। अतः यदि तीन वर्ष के दीक्षित श्रमण में भी ये योग्यताएँ हों तो वह उपाध्याय-पद का अधिकारी हो सकता है।

आचार्य पद के लिए योग्यता का आधार आचार-कौशल, शासन-नैपुण्य, ओजस्वी व्यक्तित्व, व्यवहार-पटुता, शास्त्रों का तलस्पर्शी सूक्ष्म ज्ञान तथा जीवन के अनुभव हैं। इनमें अनुभव के अतिरिक्त जो विशेषताएँ बतलाई गई हैं, वे काल-सापेक्ष कम हैं, क्षयोपशम या संस्कार-सापेक्ष अधिक। कतिपय व्यक्ति जन्मजात प्रभावशील, ओजस्वी और कर्तव्य-कुशल होते हैं तथा कतिपय ऐसे होते हैं कि वर्षों के अभ्यास तथा चिर प्रयत्न के बावजूद इस प्रकार का कुछ भी वैशिष्ट्य अर्जित नहीं कर पाते। प्रत्येक कार्य में पुरुषार्थ और प्रयत्न तो चाहिए पर तरतमता की दृष्टि से वस्तुतः इन विशेषताओं का सम्बन्ध प्रयत्नों से कम और संस्कारों से अधिक है।

आचार्य सस्कारी और पुण्यात्मा होते हैं। उनमें ये विशेषताएँ स्वाभाविक होती हैं। पर, जीवन का अनुभव भी चाहिए। अतः उनके लिए कम से कम पांच वर्ष के दीक्षा-काल की अनिवार्यता बतलाई गई। संस्कारी एवं प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति के लिए जीवन के बहुमुखी अनुभव अर्जित करने की दृष्टि से यह समय कम नहीं है।

प्रवर्तक, स्थविर तथा गणावच्छेदक के पद जिस प्रकार के उत्तरदायित्व से जुड़े हैं, उनके निर्वहण के लिए बहुत ही अनुभवी व्यक्तित्व की आवश्यकता है, जो जीवन के अनुकूल-प्रतिकूल, मधुर-कटु, प्रिय-अप्रिय जैसे अनेक क्रम देख चुका हो, परख चुका हो। अनुभव-परिपक्वता की दृष्टि से उन पदों के अधिकारी होने योग्य श्रमण के लिए जो कम से कम आठ वर्ष का दीक्षाकाल स्वीकार किया गया है, वह वास्तव में आवश्यक है।

इसी प्रसंग में व्यवहार सूत्र में एक विशेष बात कही गई है। बताया गया है कि विशेष परिस्थिति में एक दिन के दीक्षित श्रमण को भी आचार्य या उपाध्याय का पद दिया जा सकता है। यह बात विशेषतः निरुद्ध-वास-पर्याय-श्रमण को उद्दिष्ट कर कही गई है। निरुद्ध-वास-पर्याय का आशय उस श्रमण से है, जो पहले श्रमण-जीवन में था पर दुर्बलता से उससे पृथक् हो गया। यद्यपि ऐसा व्यक्ति संयम से गिरा हुआ तो होता है पर उसके पास साधु-जीवन का लम्बा अनुभव रहता है। यदि वह सही रूप में आत्मप्रेरित होकर पुनः श्रामण्य अपना लेता है तो उसके विगत श्रमण-जीवन का अनुभव उसके लिए, संघ के लिए क्यों नहीं उपयोगी होगा।

आचार्य का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण उत्तरदायित्वों को लिए हुए होता है। अतः उक्त प्रकार के एक दिवसीय दीक्षित साधु में, जिसे आचार्य या उपाध्याय का पद दिया जाना विहित कहा गया है, और भी कुछ असाधारण विशेषताएँ होनी चाहिए, जिनका निम्नांकित रूप में उल्लेख किया गया है—

वह स्थविर ऐसे कुल का हो, जिसके प्रति संघ की प्रतीति हो अथवा जो संघ के लिए दान, सेवा आदि की भावना के कारण प्रीतिकारक हो, जो स्थेय हो—प्रीतिकर होने के नाते जो संघ की चिन्ता में प्रमाणभूत हो, जो संघ के लिए, सबके लिए वैश्वसिक-विश्वास-स्थान हो, सम्मत हो, कठिनाई या संघर्ष आदि की स्थिति में सहयोग करने के नाते जो संघ के लिए प्रमोदकारक हो, जो संघ के लिए अनुमत हो

अथवा श्रमणों को दान देने में जहाँ परिवार के छोटे-बड़े सभी सदस्यों की अनुमति हो—सभी भिक्षा देने के अधिकारी हों, जो संघ द्वारा बहुमत हो—सेवाशीलता, शालीनता तथा धर्म-भावना की वृत्ति के कारण जिस कुल का संघ में बहुमान हो।^१

पारंपरिक संस्कारों का मनुष्य-जीवन पर बहुत प्रभाव होता है। पारिवारिक और पैतृक संस्कार मानव के हृदय में कुछ ऐसी धारणाएँ और मान्यताएँ प्रतिष्ठित कर देते हैं कि वह सहसा हीनपथ का अवलम्बन नहीं कर पाता। उसमें सहज ही धीरज, दृढ़ता, स्थिरता और उदात्तता आदि कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं, जिनके कारण संघ का गुरुतर उत्तरदायित्व वह वहन कर सकता है। अपनी पैतृक प्रतिष्ठा, सम्मान और गरिमा भी उसके मस्तिष्क में रहती है, जो उसे किसी भी महान् कार्य में साहस और निर्भीक भाव से जुट जाने को प्रेरित करती है। यही कारण है, यहाँ कुल की महत्ता पर इतना जोर दिया गया है।

उक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि कुल के जो विशेषण ऊपर दिये गये हैं, उनका सीधा सम्बन्ध श्रमण संघ से है। जिस कुल से श्रमण संघ का इतना नैकट्य है, जिसके बच्चे-बच्चे के हृदय में श्रमणों के प्रति अगाध श्रद्धा है, परिवार का प्रत्येक सदस्य श्रमणों को भक्ति और आदर के साथ सदा दान देने को तत्परता रहता है, वहाँ एक दो का अपवाद हो सकता है, पर उसमें उत्पन्न व्यक्ति सहज ही संघीय दायित्वों के प्रति बहुत जागरूक होगा। परम्परा और संस्कार के कारण उसे लगभग वह सब प्राप्त होता है, जो काफी समय पूर्व दीक्षित साधु को होता है।

ऐसे निरुद्ध-वास-पर्याय-श्रमण में वह शासकीय अभिज्ञता तो अपेक्षित है ही, जो आचार्य-पद के लिए वाञ्छनीय है।

यह विशेष परिस्थिति भी, कभी-कभी तब बनती है जब अपना उत्तराधिकारी मनोनीत करने का अवसर पाये बिना ही आचार्य अचानक काल-धर्म को प्राप्त हो जाते हैं। समग्र संघ के पुराने श्रमण-सदस्यों में कोई ऐसा व्यक्ति न दीख पड़े, जो आचार्य या उपाध्याय के उत्तरदायित्व को सम्हालने में सक्षम लगे, तब संयोगवश कोई ऐसा व्यक्ति दृष्टि में आए, जो परम योग्य प्रतीत होता हो, पर जिसका दीक्षा-पर्याय केवल एक ही दिन का हो तो उसे पदासीन किया जा सकता है। सामान्यतया ऐसा होता नहीं, पर विशेष स्थिति में ऐसा संयोग बन जाए तो वहाँ करणीयता का जो आधार होना चाहिए, उसे उपर्युक्त रूप में संकेतित किया है।

व्यवहार-सूत्र में एक और ऐसी ही विशेष परिस्थिति के सन्दर्भ में कहा गया है, यदि अचानक आचार्य काल-धर्म को प्राप्त कर जाएँ और तब तक उत्तरवर्ती आचार्य या उपाध्याय का मनोनयन न किया जा सका हो और संयोगवश सामने एक ऐसा (निरुद्ध-वास-पर्याय) श्रमण हो, जो यद्यपि सभी अपेक्षाओं से आचार्यत्व के अनुरूप हो पर जिसकी दीक्षा पर्याय केवल एक दिवसीय हो, जो बहुश्रुत न हो, परन्तु जो समुच्चय रूप में आचारंग तथा निशीथ का कुछ ही भाग पढ़ा हो, परन्तु अवशिष्ट भाग पढ़

१. व्यवहार सूत्र, उद्देशक ३, सूत्र ६।



आचार्यप्रवचन अभिनन्दने श्रीआनन्दरूप अन्धशुभ्र आचार्यप्रवचन अभिनन्दने श्रीआनन्दरूप अन्धशुभ्र

लेने का निश्चय व्यक्त करे, वह आचार्य या उपाध्याय के पद के लिए कल्पनीय है—उसे ये पद सौंपे जा सकते हैं। परन्तु अपने निश्चय के अनुरूप यदि वह उक्त अंश पढ़ नहीं पाए तो इन पदों का अधिकारी नहीं रह सकता।^१

श्रमण-चर्या

श्रमण जीवनोचित आचार को सूक्ष्मता से जानने-समझने तथा पालने के लिए आचारांग और निशीथ को आत्मसात् करना प्रत्येक श्रमण के लिए बहुत आवश्यक है। आचार्य स्वयं आचार के जीवित प्रतीक होते हैं, अन्तेवासियों को आचार-पालनार्थ उत्प्रेरित करते हैं। स्वयं आचार पालना, औरों से पालन करवाना यह आचार्य के कर्तव्यों में से मुख्य कर्तव्य है। अतएव श्रमण-आचार का स्वरूप और सार बताने वाले वाङ्मय को आत्मसात् करना आचार्य के लिए परम आवश्यक है। दूसरे शब्दों में यह अनिवार्य करणीयता है। व्यवहार-सूत्र के उक्त विवेचन का इंगित इसी ओर है।

जैन धर्म में आचार का सर्वोच्च स्थान है। कितना ही बड़ा ज्ञानी क्यों न हो, आचार के बिना उसका ज्ञान सार्थक नहीं है। उसे भार से अधिक क्या कहें, आचार्य, उपाध्याय आदि महत्त्वपूर्ण पदों पर आने की पहली योग्यता निर्मल आचरण है। वर्तमान में तो आचार पूर्णतया परिशुद्ध और उज्ज्वल होना ही चाहिए, जीवन के पिछले भाग में भी उसमें पवित्रता रही हो, यह अपेक्षित है। अतएव इस प्रसंग में व्यवहार सूत्र^२ में यहाँ तक निर्देश है कि श्रमण के रूप में रहते हुए यदि किसी ने व्यभिचार का सेवन कर लिया और साधु-जीवन से पृथक् हो गया, फिर पुनः प्रायश्चित्त आदि कर वह श्रमण-जीवन में आ गया, ऐसा व्यक्ति जीवन में कभी भी आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी तथा गणावच्छेदक के पद पर आने का अधिकारी नहीं है। उसे यावज्जीवन कभी इनमें से किसी भी पद पर प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता। क्योंकि श्रमण के वेष में रहते हुए व्यभिचार सेवन कर वह अपने श्रामण्य की पवित्रता और उज्ज्वलता पर एक ऐसा धब्बा लगा देता है, जो अत्यन्त दूषणीय है। ऐसे व्यक्ति को आचार्य आदि पदों पर मनोनीत कर देने से धर्म-शासन की अवहेलना होती है, उससे लोगों की आस्था हटती है।

जिस प्रकार साधु के लिए अब्रह्मचर्य-सेवन अत्यन्त जघन्य कार्य है उसी प्रकार असत्य, प्रवचना एवं छल भी उसके लिए सर्वथा परिहेय है। व्यवहार सूत्र में इस पहलू को दृष्टि में रखते हुए कहा गया^३ है कि जो भिक्षु बहुश्रुत हो, उत्कृष्टतया दश पूर्व तक के ज्ञान का संवाहक हो, परम विद्वान् हो, पर किन्हीं अनिवार्य कारणों के उपस्थित होने पर भी यदि वह माया का आचरण करता है, मृषावाद का प्रयोग करता है, उत्सूत्र की प्ररूपणा करता है तथा पापोपजीवी होता है अर्थात् पापपूर्ण जीविका का आश्रय लेता है, वह जीवन भर के लिए आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी या गणावच्छेदक पद का पात्र नहीं हो सकता।

१. व्यवहार सूत्र, उद्देशक ३, सूत्र १०
२. व्यवहार सूत्र, उद्देशक ३, सूत्र १३
३. व्यवहार सूत्र, उद्देशक ३, सूत्र २६

श्रमण का जीवन वस्तुतः कायिक, वाचिक और मानसिक शुद्धि का जीवन है। यदि उसमें कर्म और वचन की पवित्रता न रहे तो वह शोभित नहीं होता। जो श्रमण उक्त प्रवृत्तियों द्वारा दूषित बनता जाता है, उसकी साख बिगड़ जाती है। वह कितना ही बड़ा पण्डित और ज्ञानी क्यों न हो, वस्तुतः उसके द्वारा धर्म या संघ का यथार्थ उत्कर्ष सधता नहीं, अपितु अपकर्ष होता है। अतएव ऐसे व्यक्ति को आचार्य, उपाध्याय आदि किसी भी पद के लिए योग्य नहीं माना गया।

संघ में आचार्य का स्थान अप्रतिम गरिमामय है। उसकी महत्ता और पवित्रता सदा अव्याहत रहे, इसी ओर जैन परम्परा में सदैव जागरूकता बरती जाती रही है। व्यवहार-सूत्र में इस सम्बन्ध में एक स्थान पर बड़ा मार्मिक विवेचन मिलता है। कहा गया^१ है कि संयोगवश कोई आचार्य-उपाध्याय अत्यन्त रुग्ण हों, उनको अपनी मृत्यु सन्निकट लगे और तब तक वे अपने उत्तराधिकारी का मनोनयन न कर सकें हों, तो वे उन साधुओं को जो उनके पास हों, कहें कि उनका आयुष्य पूर्ण होने पर अमुक साधु जो इस पद के योग्य है, को पद-प्रतिष्ठित कर दीजियेगा। यहाँ आचार्य और उपाध्याय इन दोनों नामों का जो उल्लेख है, उसका आशय ऐसे आचार्य से प्रतीत होता है, जिनके पास आचार्य पद के साथ-साथ उपाध्याय पद भी हो। अस्तु संयोगवश आचार्य कालधर्म को प्राप्त हो जाते हैं। जिन श्रमणों को उनका इंगित किया हुआ होता है, वे आचार्य द्वारा निर्दिष्ट श्रमण की परीक्षा करें। उन्हें लगे कि वह व्यक्ति पद की गरिमा को वहन करने में सक्षम है, पद के उत्तरदायित्वों को भलीभाँति सम्हाल सकेगा तो उसे उक्त पद पर अधिष्ठित करें। यदि ऐसा लगे कि उसमें पद-निर्वाह की योग्यता नहीं है तो ऐसे किसी दूसरे व्यक्ति का मनोनयन करें, जो उसके योग्य प्रतीत हो। साथ ही साथ इसमें एक विकल्प और है। जो दूसरा योग्य प्रतीत हो, उसको यदि आचारांग और निशीथ का अध्ययन न हो तो उन्हें (श्रमणों को) चाहिए कि जब तक वह श्रमण आचारांग और निशीथ का अध्ययन न कर ले, तब तक के लिए वे उस व्यक्ति को पद दें, जिसके लिए दिवंगत आचार्य निर्देश कर गये हों। पर उसको वे यह बतला दें कि जब तक उक्त (दूसरा) श्रमण अध्ययन न कर ले, तब तक के लिए वह उस पद का अधिकारी है। दूसरे श्रमण के अध्ययन कर चुकने पर पद उसे सौंप देना होगा। तदनन्तर जब वह दूसरा श्रमण पढ़ कर योग्य हो जाये, तब वे अस्थायी रूप से आचार्य-पद पर अधिष्ठित किये गये व्यक्ति से वह पद पूर्वनिश्चयानुसार उसे सौंप देने के लिए कहें। इस पर यदि पदासीन श्रमण पद न छोड़े तो संघ के श्रमणों को चाहिए कि वे खुल्लमखुल्ला उससे पद छोड़ने के लिए कहें, उस पर जोर डालें कि वह पद का वास्तविक अधिकारी नहीं है। यों सुन कर यदि आचार्य-पदासीन व्यक्ति अपना पद विसर्जित कर दे तो उसे कोई प्रायश्चित्त नहीं आता। यदि पद का विसर्जन न करे तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

जैन परम्परा में आचार्य द्वारा उत्तराधिकारी मनोनीत किये जाने के रूप में एकतन्त्रीय शासन प्रणाली की प्रधानता थी पर उसमें एकान्तिकता या निरंकुशता नहीं थी। जहाँ आचार्य का निर्णय सर्वोपरि होता था, वहाँ उस पर चिन्तन करने की भी गुंजायश थी। सामष्टिक रूप में विवेक की कसौटी पर कसे

१. व्यवहार सूत्र, उद्देशक, ४ सूत्र १३

आचार्यप्रवचन अभिरुद्धि आचार्यप्रवचन अभिरुद्धि
श्रीआनन्दरत्न अथर्व श्रीआनन्दरत्न अथर्व



१५० इतिहास और संस्कृति

जाने पर यदि उसमें परिवर्तन करना आवश्यक होता तो श्रमण-समुदाय वैसा करना अनुचित नहीं मानता, वैसा करता, पर ऐसी स्थितियाँ कदाचित्क होतीं, बहुत कम आतीं क्योंकि आचार्य निःस्वार्थ और निर्मोह-भाव से निर्णय लेते थे। उसमें अपवाद बहुत कम होता।

जैसा कि पहले विवेचन हुआ है, यह एक ऐसी स्वस्थ एकतन्त्रीय परम्परा थी, जिसमें अधिनायक के प्रति समग्र श्रद्धा और विश्वास के बावजूद निर्लेप और उन्मुक्त चिन्तन के लिए निर्बाध स्थान था। इसी का यह परिणाम रहा कि जैन संधीय व्यवस्था में संकीर्ण स्वार्थपरता और हीनता नहीं आने पाई। यद्यपि समय-समय पर अनेक प्रकार के परिवर्तन तो आये पर वे मौलिक रूप पर आघात करने वाले नहीं बने।

जैन श्रमण संघ के दो भाग थे—श्रमण-समूह और श्रमणी-समूह। मौलिक नियम दोनों के लिए एक से थे, व्यवस्था-क्रम भी दोनों के लिए समान रूप से लागू था। पर, श्रमणीवृन्द की दैनन्दिन व्यवस्था की समीचीनता के लिए उनमें भी प्रवर्तिनी, स्थविरा तथा गणावच्छेदिका के पद निर्धारित थे। सम-लैंगिकता के नाते श्रमणियों की व्यवस्था में इससे अपेक्षाकृत अधिक सुविधा रहती है। इसके अतिरिक्त श्रमणों और श्रमणियों के अति सम्पर्क का अवसर भी, जो अवाञ्छनीय है, इससे नहीं बनता।

